UGC APPROVED JOURNAL
(UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63)

मूल्य : 20 रुपये
ISSN 0973-1490

वर्ष-19.3,19.4, 20.1 एवं 20.2

संयुक्तांक : जनवरी-दिसम्बर, 2022

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 19.3, 19.4, 20.1 एवं 20.2 संयुक्तांक : जनवरी-दिसम्बर, 2022

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी.बी. कुमार

▼

मुख्य सम्पादक

प्रकाश सिंह

▼

सम्पादक

शिवनारायण

आस्था भारती

दिल्ली-110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	30.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	100.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट्स

मयूर विहार, फेस–1 विस्तार

दिल्ली–110 096

कार्य–संचालन कार्यालय :

हाउस नं.–167, सेक्टर–15ए

नोएडा – 201 301

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस (सेवानिवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा ए.के.इन्टरप्राईजेज, 15, विजयअमन अपार्टमेन्ट, कंकड़बाग मेन रोड, पटना–20 द्वारा मुद्रित।

ई–मेल : asthabharati1@gmail.com

वेबसाईट : www.asthabharati.org

चिन्तन–सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय–क्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य 5
हिन्दी दिवस की प्रासंगिकता
डॉ. शिवनारायण

स्त्री विमर्श

1. स्त्री लेखन की चुनौतियाँ 8
डॉ. सूर्यबाला

वैचारिकी

2. भारतीय साहित्य और वाचिक परम्परा 15
डॉ. चंद्रशेखर कंबार

3. आजीवक धर्म में पितृसत्ता 20
कैलाश दहिया

4. सांस्कृतिक वर्चस्ववाद 32
बी.आर.विप्लवी

शिक्षा

5. स्वामी विवेकानंद का शिक्षा–दृष्टिकोण 41
किरीट देवनाथ

संस्कृति

6. कश्मीर का लोकनाट्य–'भाड़ पाथेर' 48
ललित कुमार सिंह

7. बुंदेली संस्कृति और लोकगीत 55
डॉ. प्रियंका

चिन्तन–सृजन, वर्ष 19.3, 19.4, 20.1 एवं 20.2 3

दर्शनशास्त्र

8. भारतीय नास्तिक दर्शन की पृष्ठभूमि और विकास 65
डॉ. रूपेश कुमार सिंह

9. बौद्ध सम्प्रदायों में निर्वाण और जीवन–मुक्ति 76
स्नेहा कुमारी

राजनीति

10. संसद में महिलाओं की भागीदारी और आरक्षण 83
डॉ. आनन्दी कुमार

11. महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया में संविधान का योगदान 92
प्रो. शैलेन्द्र सिंह

साहित्य

12. तुलसीदास की 'देहावली' में मानवीय मूल्य 98
डॉ. मधुछन्दा चक्रवर्ती

13. शमशेर के काव्य में प्रेम, प्रकृति और नारी–सौंदर्य 104
डॉ. अर्चना त्रिपाठी

14. औपनिवेशिक बिहार के क्षेत्रीय बोलियों में प्रतिरोध के स्वर 111
डॉ. शिखा सिन्हा

15. कृष्णा सोबती के उपन्यासों में समाज के विविध पक्ष 115
डॉ.० ज्योति गौतम

16. **समालोचना** 124
'शब्द ढले अंगारों में' की गजलें व्यथा को वाणी प्रदान करती हैं
अनिरुद्ध सिन्हा

■

सूचना

पिछला अंक जो वर्ष 17–18, अंक 1–8, संयुक्तांक, जनवरी–मार्च 2020 से अक्टूबर–दिसंबर 2021 के रूप में प्रकाशित हुआ था, उसमें भूलवश त्रुटि रह गई थी, जिसमें आंशिक सुधार के साथ अब उसे 17.3, 17.4, 18.1 से 18.4, 19.1 तथा 19.2, संयुक्तांक जनवरी–मार्च 2020 से अक्टूबर–दिसंबर 2021 के रूप में पढ़ा–समझा जाए। – संपादक

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

हिन्दी दिवस की प्रासंगिकता

डॉ० शिवनारायण

भारत में प्रत्येक वर्ष 14 सितम्बर की 'हिन्दी दिवस' मनाया जाता है। आखिर क्यों? ये प्रश्न बहुत से लोगों के मन में उठेंगे, क्योंकि यह एक भ्रांत प्रश्न है। भ्रांति हिन्दी दिवस के रूप में हैं। यदि इसे 'राजभाषा दिवस' के रूप में मनाए जाने की परम्परा विकसित हुई होती, तो शायद इस प्रकार के सवाल नहीं उठते। 'हिन्दी दिवस' वास्तव में 'राजभाषा दिवस' ही है। भारत के सरकारी अथवा गैर सरकारी कार्यालयों में मनाया जाने वाला 'हिन्दी दिवस' के कार्यक्रमों में हिन्दी के राजभाषा होने के तमाम कार्यकलापों अथवा कर्त्तव्यों की समीक्षा होती है।

हिन्दी विश्व भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। इस भाषा के अनेक रूप विकसित हो चुके हैं। सामान्य भाषा के रूप में हिन्दी, ज्ञान–विज्ञान की भाषा हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी, तकनीकी हिन्दी, वाणिज्यिक हिन्दी, न्यायिक हिन्दी, रोजगार की भाषा के रूप में हिन्दी के साथ–साथ सरकारी कामकाज की भाषा हिन्दी अर्थात् राजभाषा हिन्दी आदि रूपों में इसका लगातार प्रसार हो रहा है। देश–दुनिया के विभिन्न प्रयोजनों में हिन्दी का विकास बताता है कि इसने वैश्विक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा अर्जित कर ली है। भारत में हिन्दी दिवस के अवसर पर केवल राजभाषा के रूप में हिन्दी की दशा और दिशा पर चर्चा होती है। इसलिए हिन्दी दिवस को राजभाषा दिवस के रूप में मान कर ही इसकी प्रासंगिकता पर चर्चा की जानी चाहिए, अन्यथा भटकाव और भ्रांति की ही स्थिति बनी रहेगी। आम जनता में गलत संदेश जाता रहेगा कि भारत में जब कोटि–कोटि मनुष्यों की भाषा हिन्दी है और वे नित्य ही घर से लेकर बाहर तक हिन्दी में परस्पर संवाद करते हैं तो फिर सरकार द्वारा वर्ष में एक दिन 'हिन्दी दिवस' मना उस पर करोड़ों रुपये खर्च करने की क्या आवश्यकता है? हिन्दी की तरह आखिर किसी भी दूसरी भाषा के नाम पर तो कभी कोई 'दिवस' मनाते नहीं देखा–सुना गया? इस प्रकार की भ्रांत शंकाएँ आम जनता के मन में आती रहेंगी।

राजभाषा के रूप में हिन्दी की विकास–गाथा भी कम रोचक नहीं है। यहां हम राजभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकृत किए जाने के इतिहास में न जाकर भी तात्त्विक दृष्टि से कतिपय तथ्यों पर विचार अवश्य करना चाहेंगे। भारतीय संविधान में हिन्दी को संघभाषा अथवा संघ की राजभाषा कहा गया है।

जो भाषा सारे संघ के लिए राजकाज की भाषा हो, उसे राजभाषा कहा जाता है। शासन, विधान, न्यायपालिका और कार्यपालिका में राजभाषा का उपयोग वाछनीय होता है। अतः राजभाषा हिन्दी सरकार द्वारा सरकारी कार्यालयों के लिए अपनाई गई भाषा होती है। भारत में राजभाषा को दो स्थितियां मिलती हैं–(1) संघीय राजभाषा : भारतीय संविधान में हिन्दी संघीय राजभाषा के रूप में ही स्वीकृत है। (2) भारतीय राजभाषा : प्रांतीय राजभाषा के रूप में संविधान में 15 भाषाएं स्वीकृत थीं, जो बढ़कर 23 भाषाएं हो गई हैं। संविधान की अष्टम सूची में इसकी व्यापक चर्चा मिलती है।

भारतीय संविधान में हिन्दी को लेकर व्यापक चर्चा हुई। संविधान की धारा 343 (1) के अनुसार हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं, राजभाषा है। यहीं से आम जनता के मन में रोष उत्पन्न होना शुरु हुआ। भाषा संबंधी सवालों को लेकर राजनीतिक पेंचीदगियों के कारण आज तक न तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिलाया जा सका और न ही व्यापक स्तर पर भाषा चेतना की संस्कृति के विकास द्वारा अनेक भ्रांत सवालों का समाधान निकाला जा सका। राष्ट्रभाषा का सवाल हल हो जाता तो शायद हर वर्ष हिन्दी दिवस मनाए जाने की आवश्यकता ही न होती। संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने और वर्चस्ववादियों के दवाब में आकर संपर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी को स्वीकारने की द्वैत मानसिकता के कारण भारत में अंग्रेजी का वर्चस्व आज तक कायम रखा गया है। भाषा को लेकर भारत में हमेशा जन–मन को तिरस्कृत किया गया। प्रादेशिक स्तर पर तो फिर भी भाषा वहां की अस्मिता से जुड़ी रही, जन–मन और क्षेत्रीय संस्कृति की अभिव्यक्ति की अस्मिता से भाषा हमेशा जन–जन के कंठ में बास करती रही ; लेकिन राष्ट्रीय अस्मिता से हिन्दी को कभी जोड़ कर नहीं रखा गया। अन्य देशों में भाषा को लेकर इस प्रकार के उदाहरण देखने की नहीं मिलेंगे, इलिए कहीं भी किसी भाषा को लेकर कोई 'दिवस' भी नहीं मनाया जाता।

भाषायी अस्मिता संबंधी तमाम सवालों के बावजूद भारत में 'हिन्दी दिवस' के मनाए जाने की प्रासंगिकता बनी रहेगी। राजभाषा के रूप में 'हिन्दी दिवस' पर सरकारी कार्यालयों में हो रहे कामकाज में हिन्दी के प्रयोग और उसके बढ़ते प्रभावों की समीक्षा की जाती है। सरकारी कामकाज से आशय है प्रारूपों–टिप्पणियों में हिन्दी को महत्व, हिन्दी में टंकण–संगणन की अधिकाधिक सुविधा, आम जनता से हिन्दी में संवाद, पत्राचार आदि में हिन्दी को महत्व देना, संपर्क के सभी स्त्रोतों पर हिन्दी का वर्चस्व आदि। इसके अलावे नीति निर्धारण के स्तर पर भाषा के रूप में हिन्दी को महत्व दिया जाना भी अपेक्षित है। तकनीकी और ज्ञान–विज्ञान के माध्यम भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाने संबंधी कार्य भी शामिल किया जा सकता है। सरकारी फाइलों की भाषा के रूप में प्रयुक्त प्रयोजनमूलक हिन्दी के अधिक से अधिक सरल, सुगम और आम जनता की समझ में आने योग्य बनाने पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। भारत सरकार के गृहमंत्रालय ने एक अधिसूचना जारी कर अपने अधिनस्थ कार्यालयों को

निदेशित किया है कि टिप्पणियों में केवल पारिभाषिक शब्दों का उपयोग न कर सामान्य बोलचाल के शब्दों का भी उपयोग किया जा सकता है। तमाम उपाय किए जा रहे हैं, जिससे सरकारी फाइलों में हिन्दी अधिक से अधिक सुगम हो सके और इन सबकी समीक्षा 'हिन्दी दिवस' के अवसर पर होती है। भाषा केवल अभिव्यक्ति नहीं होती। उसमें उसकी संस्कृति की धारा भी बहती है। इसलिए भाषा अभिव्यक्ति का अस्मिताई बोध भी कराती है, जो लोगों को आपस में जोड़े रखती है। हिन्दी बहुभाषा–संस्कृति का समन्वित स्वरूप है। इसमें इतना लचीलापन है कि किसी भी समृद्ध भाषा से होड़ लेती हुई उसमें आवाजाही कर सकती है। खुलापन इतना कि किसी भी भाषा–संस्कृति के शब्दों से परहेज नहीं! अपने खुलेपन और लचीलेपन के कारण ही यह विश्व के अनेक देशों में प्रतिष्ठित हो रही है। अपने वर्चस्व से किसी को आक्रांत नहीं करती और न किसी के वर्चस्व के प्रभाव में आती है। व्याकरणिक लचीलापन भी इसकी विशष्टता है। अपने सर्वसमावेशी स्वभाव के कारण ही विश्व जनता द्वारा भी पसंद की जाती है। इसी सर्वसमावेशी विश्वभाषा चरित्र को विकसित कर हिन्दी ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी स्थान पाने में सफलता पाई है। इसका इतिहास, भूगोल, संस्कृति–दर्शन आदि भी समृद्ध है। हिंदी बांधने में नहीं, खुलने–खोलने में विश्वास करती है। भारत में इसके इस राष्ट्रीय चरित्र को रेखांकित किए जाने की दिशा में राजनीतिक कारणों से कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया, अन्यथा अलग–अलग प्रदेश का भाषाओं को पूर्ण सम्मान देते हुए उन सबकी शक्ति से हिन्दी की राष्ट्रभाषा की क्षमता से लोगों को सहज ही विश्वास में लिया जा सकता है और यह भी विश्वास दिलाया जा सकता है कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने से देश की किसी अन्य भाषा की प्रतिष्ठा पर कोई आंच नहीं आ सकती है!

भारत में अंग्रेजी का वर्चस्व शेष है, विशेषकर उच्चाधिकारियों में। अभी इसके टूटने में समय लगेगा। हिन्दी सामासिक भाषा है अर्थात् अनेक क्षेत्रीय भाषाओं और उनकी संस्कृतियों का समुच्चय रूप। यही इसकी ताकत है। क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक स्तर पर हिन्दी की भाषायी अस्मिता का प्रभाव आम जनता में स्पष्ट देखने को मिलती है; पर यही प्रभाव जब राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्त होने लगेगा तो भाषायी मानसिकता का द्वैत भी मिटेगा। अंग्रेजी से हमारा कोई विरोध नहीं है, लेकिन कोटि–कोटि भारतीय जनता की आकांक्षा है कि उसकी राष्ट्रीय सांस्कृतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति उसकी अपनी भाषा हिन्दी में हो! जिस दिन राष्ट्रीय स्तर पर आम जनता की भाषायी–संस्कृतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति प्रबल होने लगेगी, उसी दिन से एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता भी आन पड़ेगी। फिर हिन्दी को उस गौरवशाली पद पर आसीन होने से कौन रोक पाएगा? हिन्दी को राष्ट्रभाषा का सम्मान मिलेगा, तो 'हिन्दी दिवस' मनाने की औपचारिकता से भी मुक्ति मिल जाएगी। जब तक मुक्ति नहीं मिलती, 'हिन्दी दिवस' मनाया जाता रहेगा। 'हिन्दी दिवस' मनाया जाना चाहिए, क्योंकि अभी उसकी प्रासंगिकता है।

■

स्त्री विमर्श

स्वप्न, द्वंद्व और उपलब्धियों के बीच
स्त्री लेखन की चुनौतियाँ

डॉ. सूर्यबाला

मैं स्त्री–लेखन को पिछली सदी की एक महत्वपूर्ण घटना एक उपलब्धि मानती हूं... जब, सदियों से शिलावत अपने अंदर की अहिल्या को स्त्री ने स्वयं अपनी कमल का स्पर्श देकर जगाया होगा। यूं बहुत आकस्मिक भी नहीं कह सकते इसे क्योंकि इसके पहले भी युग, समय के अंतरालों को भेद कर जब, तब गार्गी, सावित्री, अपाला, नटी विनोदिनी, हंसा वाडेकर और रूकैया सखावत हुसैन ने भी स्त्री–जीवन की घुटन भरी गुफाओं के बाहर खुली हवा में सांस लेने के रास्ते तलाशने के प्रयास किये थे.... किंतु तब उनका वह प्रयास दुःस्साहस का पर्याय माना जाकर विस्मृत तिरस्कृत दिया गया था। अस्तु....

लेकिन पिछली सदी में क्रमशः अस्तित्व में आयी स्त्री–लेखन की प्रवाहमान धारा में स्त्री स्वयं अपने अनुभव, अनुभूतियों का प्रामाणिक बयान दर्ज करने के लिए उद्यत थी। अब तक पुरूष (लेखकों) की दृष्टि से देखी और उकेरी जाती स्त्री अब स्वयं, 'कर्म' से कर्ता हो रही थी। कथा–लेखन के इस स्वतःस्फूर्त अभियान में स्त्री के वे सारे स्वप्न निहित थे जो उसने अब तक अपने अवचेतन में देखे होंगे और रूढ़ियों की जकड़नों के बीच से मुक्ति की आकांक्षाओं ने सांकले खोलने का उद्यम ठाना होगा। सत्यतः तो युगों से अशिक्षा, अज्ञान और अंधविश्वासों के अंधेरों में घुटती स्त्री को उजाले में लाने का पूरा श्रेय उन महान समाजसेवियों, साहित्यकारों और स्वाधीनता संग्राम से जुड़े देश भक्तों की सदय दृष्टि और जुझारू प्रयत्नों को जाता है, जिन्होंने स्त्री के रास्ते रोशन करने के लिए समाज की घोर प्रतिगामी शक्तियों के विरोध झेले थे। स्त्री–शिक्षा, समाज सुधार और अंध विश्वास के निषेध में उठी उनकी बुलंद आवाजों और अथक प्रयासों ने स्त्री को ऊर्जा और आत्मविश्वास से संतृप्त किया था। इसी का प्रतिफल था कि मुक्तिगामी और विकासोन्मुख 'समाज की स्त्री' के साथ–साथ, 'साहित्य की स्त्री' भी अपनी पगडंडी तलाश रही थी। तभी तो घुटन के बीच जीती स्त्री के मन–जीवन की विडंबना के दस्तावेजी और मार्मिक आख्यान उन दिनों महादेवी की 'शृंखला की कड़ियां' जैसी कृतियों तथा सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं तथा कहानियों में दर्ज होते जा रहे थे।

संपर्क – बी.504, रुनवाल सेंटर, गोवंडी स्टेशन रोड देवनार, मुंबई–88, मो.–9930968670

इन सारे नेपथ्य और भारतीय समाज में आ रहे बदलावों के बीच से हिंदी साहित्य के आकाश में स्त्री–लेखन का एक नया सौर मंडल क्रमशः रोशन होता चला गया था जिसकी प्रस्तावना कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा और मन्नू भण्डारी जैसी लेखिकाओं ने लिखी थी। यहां जितने स्वप्न और आकांक्षाए थी उतना ही विस्तृत अंतर्द्वंद्वों का संसार भी था। अब स्त्री के सामने घर के बाहर का खुला संसार, खुली हवाएं थीं, नई संभावनाओं वाला बदलता समाज था तो उन रास्तों में आयी नई द्विधाएं भी थीं। शिक्षित होती कामकाजी स्त्री के सामने आर्थिक आत्मनिर्भरता का सम्मोहक स्वप्न था तो घर बाहर की दुहरी जिम्मेदारियों की विडंबना भी। एक तरफ पंख पसारते प्रेम की अनुभूतियां थीं, तो दूसरी तरफ अपवाद स्वरूप ही आईं, 'मित्रो मरजानी' के रूप में स्त्री की यौनिक इच्छाओं का खुला विस्फोटक स्वीकार भी था। कुल मिलाकर इन तीनों लेखिकाओं के लेखन में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की स्त्री के बाहर और अंदर की सारी उमंग, ऊर्जा, द्वंद्व और टकराहटों का एक भरापूरा संसार उपस्थित था।

बावजूद इसके 'महिला–लेखन' शब्द, यह नामकरण, अस्तित्व में तब आया जब सातवें–आठवें दशक में देखते–देखते चार छः वर्षों के अंतराल पर दर्जन से ऊपर युवा लेखिकाएं, कथा–लेखन के सदर दरवाजे से अपनी शिनाख्त करवा चुकी थीं, तथा शेष भी करवाती जा रही थीं। धर्मयुग, सारिका, साप्ताहिक हिंदुस्तान, कल्पना, कहानी, ज्ञानोदय, कादम्बिनी सभी प्रमुख पत्रिकाओं में 'महिला कथा लेखन' अंकों तथा विशेषांको की बाढ़ सी आ गई थी। ऊर्जा और उत्साह से भरपूर स्त्री–कथाकारों की यह वेगवती धारा, सारे कथा–आंदोलनों और विचारधारात्मक आग्रहों से अलिप्त अपने अंदर–बाहर का मार्मिक और सीधा सच्चा आख्यान प्रस्तुत कर रही थी। नई कहानी 'अकहानी' और तमाम सारी फतवे बाजियों से ऊबा, त्रस्त हिंदी का एक विशाल पाठक वर्ग सोत्साह इस लेखन से जुड़ रहा था, उन्हें सराह रहा था। अपने संपादकों, प्रकाशकों और पाठकों से मिली प्रेरणा, प्रोत्साहन के बल पर दत्तचित्त एक जुनून की तरह कथा लेखन में जुटी इन कलमों ने अपनी तीनों वरिष्ठ लेखिकाओं द्वारा डाली सुदृढ़ नींव पर 'महिला–लेखन' की भीत्ति उठायी थीं, मेहराबें काढ़ी थीं, रोशनदान और झरोखे खोले थे। उनके पृथक संस्कारों, संवेदना, अनुभव और शिल्प से संवारा, एक आंदोलन नहीं बल्कि, एक अभियान की तरह कथालेखन का यह कारवां चल पड़ा था।... आज तक चल रहा है।...लेकिन अस्तित्व में आने से लेकर अपने लेखन की प्रतिष्ठापना तक की यह यात्रा आसान नहीं थी महिला लेखन के लिए बल्कि एक तरह की ऑब्सटेक्ल रेस' थी। लेखिकाओं के जीवट और जिजीविषा का प्रामाणिक दस्तावेज थी उनकी रचनाधर्मिता। जीवन में भी और लेखन में भी दुहरे अस्तित्व संघर्ष की चुनौतियों के बीच लिख रही थीं ये लेखिकाएं।

लोकप्रियता मिलते जाने के साथ ही महिला लेखन पर स्वभावतः आरोप लगने भी प्रारंभ हो गए थे। लोकप्रियता वैसे भी हिंदी में किसी रचनाकार को एक विडंबलना की तरह ही मिलती है। अतः लोकप्रिय मानकर स्त्री के लिखे को कहीं

उपेक्षित किया गया तो कहीं सीमित, दृष्टि और घरबारी अनुभवों का आख्यान माना गया। संपन्न घर की, सुशिक्षित महिलाओं का शगल और 'टाइम–पास' तक मान लिए गए इस लेखन से आलोचक, समीक्षक और मठाधीशी दृष्टियां यथा संभव कतराकर निकलने का रास्ता तलाशती रहती थीं। उन दशकों में महिला–लेखन शब्द से स्वयं लेखिकाओं द्वारा ही आपत्तियां उठाने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि इस नामकरण से 'दोयम दर्जे' के लेखन के ध्वन्यार्थ निकलते थे, जो सच नहीं थे। सच तो यह है कि उत्कृष्ट, सामान्य और अति सामान्य लेखन हर युग, समय में होते ही रहते हैं।

महत्वपूर्ण यह भी कि विवादों और स्पष्टीकरणों में न उलझते हुए इन सारे आरोपों प्रत्यारोपों का प्रत्युत्तर स्त्री रचनात्मकता की उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर और वैविध्यपूर्ण होती जा रही कृतियों, और रचनाओं ने दिया। क्रमशः गतिशील अंतिम दशक तक आते–आते स्त्री–कथाकारों की 'वापसी', 'यही सच है', 'लपटें', 'प्रेत', 'बाऊजी और बंदर', 'सुनंदा छोकरी की डायरी', 'हरी बिंदी', 'सुलेमान', 'पानी की दीवार', 'दूबधान', 'तीसरी हथेली' की कहानियों से लेकर औपन्यासिक कृतियों तक, कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर वैविध्य, गहराई, विचार और संवेदना के नए कीर्तिमान गढे। स्त्री–मन के अदृश्य प्रकोष्ठों से लेकर सांस्कृतिक अवमूल्यन तक से उपजे मोहभंगों को समेटने वाली ये कृतियां, हिंदी की महती उपलब्धि प्रमाणित हुई। अगले, पिछले दशकों को मिलाकर तब तक 'आपका बंटी', 'महाभोज', 'पचपच खंभे. ...', 'रूकोगी नहीं राधिका', 'आदमीनामा' से लेकर 'अनित्य' 'कठगुलाब', 'आंवां', 'गिलिगडु', ' इदन्नमम', 'बेघर', 'सुक्खम् दुख्खम', 'यामिनी कथा', 'मेरे संधिपत्र', 'पाषण युग', 'कथा सतीसर', 'ऐलान गली जिंदा है' 'तत्सम', 'जिंदा मुहावरे', 'शाल्मली', 'सिरजनहार', 'भामती', 'पंचवटी', 'पीली आंधी', 'पटरंग पुरपुराण'.... जैसी कृतिया पर्याप्त चर्चित हो चुकी थीं।

उल्लेखनीय यह भी कि लगभग सारी प्रमुख लेखिकाओं के कथ्य और शिल्प में विस्मयकारी अंतर था। राजी सेठ से लेकर, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, उषा किरण खान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, सुधा अरोडा, चंद्रकांता और इन पंक्तियों की लेखिका तक किसी की भी कुछेक पंक्तियां पढ़ने के साथ ही बेहद सहजता से पहचानी जा सकती हैं कि यह किस लेखिका की रचना है। कहीं संवेदना की अतल गहराई है, कहीं वैचारिक स्तर पर गहन विश्लेषण, कहीं मोहभंग की दो टूक सच्चाइयां, तो कहीं अवसाद की घनीभूत छाया।.... इतना ही क्यों, कहीं खनकदार चुटकियों में समेटी जाती स्त्री जीवन की विडंबना, कहीं विचार और संवेदना की थिराती सतहें और कहीं स्त्री–स्वातंत्र्य की दो टूक ऐलानियां जंग भी। कहीं ग्राम्यांचल से गांव जवार तक धूल झाड़कर खड़ी चैतन्य होती स्त्री है तो कहीं इतिहास के तथ्यों के बीच से उकेरे जाते उसके जीवन के मार्मिक सच।

संभवतः उन्हीं दशकों में खुली अर्थव्यवस्था और वैश्विक सौंदर्य प्रतिस्पर्द्धाओं वाले समाज के समानांतर, साहित्य में भी बाजारवादी शक्तियां अपनी पैठ बना रही

थीं। आठवें नौवें दशक से ही कथा लेखन की पुरूषवर्चस्वी ताकतों ने बड़ी गुरूगंभीर, अतिबौद्धिक और अत्याधुनिक मुद्रा में स्त्री रचनाधर्मिता को 'लेखकीय प्रतिबद्धता, पारदर्शिता और अनुभूति की प्रामाणिकता वाले नये शब्दकोश को नये सिरे से परिचित कराना प्रारंभ किया। समाज की स्त्री और कथालेखन में प्रवृत्त स्त्री अर्थात लेखिकाओं का सच्चा हितैषी और संरक्षक होने का दावा करने वाली इन शक्तियों ने बड़े सम्मोहक अंदाज में 'स्त्री–विमर्श' का नारा बुलंद करते हुए 'दृढ़ और निर्भीक' जैसे शब्दों की आड़ में 'दुःसाहसी' और 'बोल्ड' लेखन की ओर प्रेरित, प्रोत्साहित किया तथा स्त्री मात्र की मुक्ति को क्रमशः देहमुक्ति से जोड़ते हुए यौनिक स्वच्छंदतावाद की ओर उकसाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी।

अपनी ही कुछ पुरानी पंक्तियां कोट करूं तो 'बोल्ड और दुस्साहसिक लेखन के लिए रातों–रात चर्चा और सुर्खियों की ऐसी रेड कारपेट बिछा दी जाती है कि नए ही नहीं पुरानों के भी भटक जाने की पूरी गुंजाइश बनी रहतीं हैं।' कुल मिलाकर स्त्री–लेखन को बरगलाने वालीं साजिशें पूरी जमात पर अमादा थीं।'

बेशक अधिकांश वरिष्ठ और परिपक्व कलमें, इस प्रवृत्ति बनाम साजिश की भर्त्सना और विरोध करते हुए अपने रचनात्मक विवेक पर टिकी रहीं... लेकिन 'लम्हों ने खता की थी, सदियों ने सजा पाई' वाली पंक्तियां चरितार्थ होनी ही थीं। 'ब्रेनवाश' इतना असरदार था कि साहित्य का बाजार उन दशकों की कई आत्मकथाओं सहित, विमर्शी और फार्मूलाबद्ध लेखन से पटता चला गया। गनीमत यही थी कि खोटे सिक्के, खरे सिक्कों को बाजार के बाहर नहीं कर पाये। फलतः, एक साथ, लेखिकाओं की तीन पीढ़ियों से छन कर आते उत्कृष्ट, उत्तरदायी और वैविध्य स्त्री–लेखन की यात्रा सतत् गतिमान है।

रचनाधर्मिता की यह युवा पौध आत्मविश्वस्त होने के साथ–साथ आसन्न खतरों से खबरदार भी है। लेखन की बढ़ी हुई चुनौतियों से वे अवगत नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता लेकिन विचलन की संभावनाओं से इंकार भी नहीं किया जा सकता जिसके मूल में वे ही अति बौद्धिक (तथाकथित) फतवेबाजियां हैं जो स्त्री–लेखन के बाजार को क्रमशः एक बड़े शॉपिंग मॉल में बदल देना चाहती हैं... जबकि सभ्यता के और–और दुर्दांत होते जा रहे इस समय में, स्त्री–लेखन को मनुष्य के मूलभूत जीवन–मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने की पहल करनी है। छितरते, विछिन्न होते मानवीय संबंधों को विनष्ट होने से बचाना है; क्योंकि हवाओं के रूख का कोई ठिकाना नहीं। वह कभी भी यह ट्रेंड बरपाते हुए निकल जाता है कि भाषा से लेकर शिल्प कौशल तक में कुछ अश्लील होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं.... अश्लील तो दृष्टा की दृष्टि होती है। प्रलोभन की यह हरी झंडी अनजाने, अनायास, ऐसे लेखन की प्रेरणा बनती है जिसकी गलियों से सिर नीचा करके चलने के सिवा और कोई उपाय नजर नहीं आता। मैं गलत हो सकती हूं, और अपनी बात मनवाने के लिए जरा भी जोर न देते हुए हमेशा से अपनी यह बात दुहराती आई हूं कि कालजयी लेखन कभी भी 'बोल्ड' और 'दुस्साहसी' शब्दों का मुहताज नहीं हुआ करता।

दुर्भाग्यपूर्ण सिर्फ यह है कि 'अश्लील' को न प्रमाणित किया जा सकता है, न पारिभाषित, सिर्फ महसूस किया जा सकता है, इससे हम इंकार नहीं कर सकते। लेकिन प्रतिगामी ताकतों के सामने रचनाकार का विवेक ही उसे संभाल सकता है। वरना 'निःशुल्क प्रवेश' की तख्ती वाला यह रास्ता सीधे यौनिक स्वच्छंदतावाद और पोर्न चित्रणों के ऊपर बड़ी अजीजी से 'प्रतिबद्ध' और प्रामाणिक लेखन' का टैग लगा पीठ थपथपा देता है।

मैं पुनः गलत हो सकती हूं पर मेरा यह भी मानना है कि 'विषय' अथवा 'कथ्य' कोई भी अश्लील नहीं हुआ करता, 'शृंगार' से सेक्स तक... अश्लील उन्हें अभिव्यक्त करने का तरीका हुआ करता है। और 'सब कुछ' का स्थूल, विस्तृत बयान, मेरी दृष्टि में, कहीं न कहीं रचनाकार की अक्षमता का प्रतीक होता है। प्रायः अन्य देशी–विदेशी भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजी का उदाहरण देकर समझा दिया जाने वाला यह तर्क भी मेरी अल्पबुद्धि से ऊपर है कि यदि अन्य भाषाओं में खुलेपन का यह ट्रेंड चल रहा है तो हिंदी में क्यों नहीं चल सकता। यहां फिर मेरा मानना हैं कि बहुत से ऐसे टर्म्स मुहावरे हैं जो इंगलिश के सभ्य समाज और साहित्य में धड़ल्ले से उपयोग किये जाते हैं लेकिन भारतीय सभ्य समाज में नहीं.... फिर साहित्य में उसे लाने का हठ क्यों? हर भाषा की प्रकृति दूसरी से भिन्न होती है। वर्जित शब्दों के उपयोग की रीति और शर्तें भी भिन्न.... ऐसे में लेखक के रचनात्मक विवेक पर इस तरह के दबाव डालने की कोशिश क्या ज्यादती नहीं?

स्त्री–रचनाशीलता के लिए आज पहली चुनौती यही है कि वह 'विमर्शी जिन्न' के 'आफ्टर–इफेक्ट', हैंगोवर से बची रहे। इस तरह के फार्मूलों और दबावों ने स्त्री–लेखन की संभावनाओं को सीमित किया है और उसकी गहराई तथा विस्तार को बाधित। इन दबावों का ही परिणाम था कि एक समय में 'चैतन्य', 'समर्थ स्त्री' का वह नया नकोर मॉडल बेहद लोकप्रिय होता चला गया जिसमें कहानी या उपन्यास की स्त्री को तो 'आक्रामक 'मुखर' और विद्रोही होना ही है अन्यथा वह चैतना संपन्न और समर्थ स्त्री कैसी? यथास्थिति से विद्रोह और बगावत ही स्त्री का सर्वोपरि गुण माना जाने लगा। 'परिपक्वता' शब्द 'रूढ़ और दकियानुसी' का जुड़वा हो बैठा। निश्चित रूप से जहां कुछ कहानियां, औपन्यासिक कृतियां तदरूप कथा वस्तु और घटनाक्रम की वजह से ऐसे स्त्री चरित्रों के साथ प्रायः न्याय संगत सिद्ध हुए वहीं भिन्न कथा वस्तु और अतिसंवेदनशील स्थितियों में भी विचार और विवेक से पहले, विद्रोह और विरोध का पल्ला थामकर अपनी जीत का ऐलान करने वाली समर्थ और आक्रमक स्त्री चरित्रों की बाढ़ सी आ गई। यह समझने में भी वक्त लगना ही था कि प्रायः कागज पर लड़ी जाने वाली लड़ाइयां और विद्रोह जीवन में यथा रूप नहीं उतारे जा सकते।

कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना कि जब तक रची जाती कहानियां, कृतियों पर विमर्श हो रहे हों, तब तक ठीक लेकिन जब विमर्शों को ही ध्यान में रखकर कहानियां लिखी जाने लगे तो साहित्य की विश्वसनीयता खंडित हो, संदेह के घेरे में आ जाती हैं।

अतः नयी स्त्री–रचनाशीलता के लिए यह समझना भी आवश्यक है कि उसके लिए 'स्त्री–मानस' की बहुत सारी गहराइयां थहाना अभी शेष है। हमें इन अदेखे प्रकोष्ठों की शोध करनी होगी। अब तक के अपने बनाए, इस्तेमाल में आ चुके सांचों को स्वयं तोड़ना होगा। अपने लिखे के प्रतिपक्ष को भी प्राथमिकता देनी होगी'....

स्त्री जितना दिखती है, सिर्फ उतनी भर नहीं होती.... मनसा, वाचा, कर्मणा, अपनी सारी क्रिया–प्रतिक्रियाओं के बावजूद हर स्त्री दूसरी से अलग भिन्न होती है। उसकी समस्या और उद्विग्नताओं को स्त्री मात्र की समस्या या स्थिति मानकर एक सी पर्ची नहीं काटी जा सकती, न एक से निदान ही सुझाए जा सकते हैं। साहित्य और समाज में भी चल रहे सारे कागजी नारों, सिद्धांतवादी और विमर्शों से अलग नई कलमों को वह स्त्री उकरेनी होगी जो अपने ऊपर हुए सारे नये–पुराने प्रयोगों के बीचों–बीच विमूढ़ सी खड़ी है.... चौराहे पर लगी अतिबौद्धिक तख्तियां 'शर्तियां इलाज' के तौर पर व्यक्ति सत्ता को पोसने वाले अति आधुनिक और उत्तर आधुनिक टॉनिक प्रेस्क्राइब कर रही होगीं लेकिन स्त्री को सोचना होगा कि पुराना सब कुछ त्याज्य नहीं होता और न नया सब कुछ ग्राह्य। स्त्री के अंदर अपने जीवन को बरत पाने का वह विवेक हो कि कहां पूर्वाग्रह मुक्त होकर परंपरा से जुड़ना है और कहां खुले दिल दिमाग से आधुनिकता को अपनाना है। स्त्री को बेशक अपनी व्यक्ति सत्ता और 'स्पेस' के दावों के साथ खड़े रहना है लेकिन उसकी सीमाएं भी समझनी हैं तथा स्व अस्तित्व के साथ सहअस्तित्व के सामंजस्य और समरसता की शर्तों और महत्व को भी स्वीकारती हों। वह गलत का विरोध करने के लिए सदैव प्रस्तुत हो, और हर अन्याय शोषण के खिलाफ विद्रोह की समझ और सामर्थ्य भी रखती हो, लेकिन विरोध और विद्रोह तब और कैसे किया जाये इस की तरकीब और युक्ति भी जानती हों।

जीवन की जटिलताओं के बीच कभी–कभी तो स्थितियां ऐसी भी आती हैं जब गलत और अन्याय करने वाले को इसका अहसास तक नहीं होता। ऐसी भूलें, मानसिक तथा भावनात्मक हिंसा, जाने कितनी शक्लों में आती हैं और प्रायः शारीरिक हिंसा से ज्यादा मर्मांतक सिद्ध होती हैं। इन सारी स्थितियों से निपटने के लिए जो रास्ते तलाशे गए, जो निदान बताए गए, वहां पहुंचकर भी स्त्री ने महसूस किया कि उसकी तलाश पूरी नहीं हुई, प्रयोग सही साबित नहीं हुए.... तो!... हथियार डालने तो नहीं है लेकिन बदलने की बात तो सोची ही जा सकती है। हताशा, अनास्था अथवा आक्रामकता, विखंडन और बिखराव भी, अंततः स्त्री को छूछा ही छोड़ने वाले हैं। तो कुछ प्रयोग जीवन और संबंधों को जोड़ने की दिशा में भी क्यों न करके देख लिये जाएं। आखिर जीवन एक प्रयोगशाला ही तो है, विशेषकर स्त्री का जिसमें उम्र भर उसके प्रयोगों का सिलसिला चलता ही रहता है।

ऐसा मैं इसलिए भी कह रही हूं क्योंकि आज की नई पीढ़ी प्रायः 'विचार' और 'धैर्य' को सिरे से नकारने सी लगी है। उसके लिए त्वरित निर्णय और 'उसका ही' निर्णय, सर्वोपरि होता है.... भले ही इसकी परिणति उसे टूटकर किरचों में बिखरा ही क्यों न दे... तब भी अपने 'इगो' को स्वाभिमान समझने की गलती वह बार–बार

दुहराती रहती है। समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में घुसपैठ सिर्फ इसलिए करनी पड़ी क्योंकि स्त्री–लेखन की जिम्मेदारियां आज बहुत बढ़ गई विशेषकर मेरी नज़र में। इसलिए भी क्योंकि मैं स्त्री को बहुत ऊंचा करके आंकती हूं, और उससे बहुत सारी अपेक्षाएं लगा बैठती हूं। ये अपेक्षाएं भी स्त्री के साथ–साथ विश्व समाज से जुड़ी होती हैं। सैकड़ों बार की दुहारायी अपनी बात आज फिर दुहराऊंगी कि इस समय को, इस अंधेमोड़ तक लाने के लिए बेशक स्त्री जरा भी जिम्मेदार नहीं है लेकिन अपने चारों तरफ की दुनिया से लेकर इस विश्व को वापस सुंदर और बेहतर बनाने का कौशल सिर्फ स्त्री के पास है। बशर्ते वह अपनी सही सामर्थ्य और चेतना का अहसास और इस्तेमाल करना जानती हो।....

स्त्री–लेखन को अपने अनुभव, अनुभूतियों और स्मृतिकोषों के बीच से 'वह स्त्री' उकेरनी है जिसे अपने 'स्त्री' होने पर गर्व हो, जो अपनी प्रकृतिप्रदत्त, बुद्धिमत्ता चातुर्य और प्रबंधन–क्षमता से समृद्ध स्त्रीत्व को लेकर आत्मविश्वस्त हो। जो मोहबंधों, रिश्तों को हमारे जीवन का अपरिहार्य पाथेय मानती हो और सारी टूटन, बिखराव और विशृंखलताओं के ऊपर सेतुबंध के लिए सत्त तत्पर हों।

ये सब कहने का मेरा आशय सिर्फ इतना है कि पिछले बीस वर्षों में मैंने विश्व के सर्वाधिक विकसित और समृद्ध देशों के समाज, परिवार, रिश्तों और स्त्री को बहुत निकट से देखा है। दो वर्षों पूर्व आये मेरे उपन्यास, 'कौन देस को वासी, वेणु की डायरी' का तो केंद्र–कथ्य ही यही है कि अति आधुनिकता के सारे प्रयोग जो वहां पिटकर असफल सिद्ध हो चुके हैं उसकी परिणतियां देखने के बाद भी हम चेतते क्यों नहीं? सुबह का भूला शाम को घर वापसी के बारे में क्यों न सोचे। उन अतिआधुनिक समाजों की हताशा, अनास्था और संबंधों के बीच पनपे भयानक अविश्वास हमें सहमाते हैं। उनके बीच टूटती स्त्री तथा माता–पिता के अलगावों के फलस्वरूप टूटन, अकेलेपन और विक्षिप्तता के शिकार बच्चे, हमारी चिंताओं के मूल में होने चाहिए। अतः हम वहां के वर्तमान को अपने समाज का वर्तमान होने से बचायें। स्थिति की भयावहता समझते हुए भी विश्वसमाज के अन्यान्य क्षेत्र जुटमिल कर वह सब नहीं कर पा रहे.... तो कम से कम साहित्य ही वह पहल करें... कथा–साहित्य और स्त्री–कथा लेखन... मैंने इधर युवा और नई लेखिकाओं को काफी पढ़ा है। उनकी गहरी संवेदना, ज्ञान और अनुभव, शिल्प को महसूसा है, रचनात्मक पूंजी का कारूं का खजाना उनके पास है। सिर्फ किस दिशा में उनका इस्तेमाल करना है, इसका एक संकेत भर करना मैंने अपना धर्म समझा– अस्तु!

अंत में, मुझे यह समय, यह अवसर देने के लिए आप सबका, समूचे 'नईधारा' संस्थान तथा उनसे सहयोगियों का हृदय से धन्यवाद।.... छोटे मुंह कोई बड़ी बात निकल गई हो तो उसके लिए बार–बार क्षमा भी.... वस्तुतः जो कुछ कहा, वह मेरी दुःखती रग, दुःखता मन था जो बार–बार मेरी रचनाओं में भी छन कर, उतर कर आता ही रहता है।

●

भारतीय साहित्य और वाचिक परम्परा

डॉ. चन्द्रशेखर कंबार

प्राचीन भारतीय साहित्य का बहु भाग बोलचाल के शब्दों का व्यक्त रूप है। संरक्षण की दृष्टि से वह वाचिक परंपरा की संपत्ति है। वेदों का संरक्षण एक अक्षर की भी क्षति हुए बिना युगों से वाचन (पाठ की) कठिन व जटिल व्यवस्था द्वारा किया गया। भारतीय इतिहास में लेखन का परिचय विदेशियों के प्रभाव से बाद में हुआ। साहित्य लिखित रूप में ब्रिटिशों के शासन में उभरते देखा जाता है। हमें उस वास्तविकता की ओर ध्यान देना चाहिए कि लेखन की प्रामाणिकता ब्रिटिश न्यायालयों से शुरु हुई, क्योंकि ब्रिटिशों को स्थानीय गवाहों के बयान पर विश्वास नहीं था। हमें इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि पाश्चात्य सभ्यता पुस्तक केंद्रित है। परंतु भारतीय संस्कृति के संदर्भ में तो पुस्तक उसी तरह समान शक्ति और अधिकार चला नहीं सकती।

भारत की संस्कृति की विशिष्टता जीवंत व्यक्ति के उस रूप में है जो संस्कृति के आदर्शों को व्यवस्थित ही नहीं करता, अपितु परामर्श का कार्यान्वयन भी करता है। उस आदर्श का कोई अर्थ नहीं, जब तक मानव भाषा और कृति में परिवर्तित नहीं होता। कम से कम भाव रूप में मन, वाक् और क्रिया में एक ओर संगठित वस्तु न हो। ऋग्वेद की एक प्रार्थना के अनुसार, 'वाक् मन के मूल में स्थिर रहता है और मन वाक् में स्थापित रहता है।' परिपूर्ण व्यक्तित्व में ऐसी शक्ति और प्रभाव रहता है कि वह सत्य की अभिव्यक्ति का सही साधन है।

प्राचीन भारत में लेखन और वाचिक दोनों परंपराएँ थीं। उनमें मूलभूत भेद उनकी कार्य प्रणाली में भी था। लेखन जो लेखक या ग्रंथकर्ता से उभरा है, वह उसे जीवित रखता है। इसलिए वह लेखक की संतति के उपभोग के लिए है। दूसरी ओर जो वक्ता के व्यक्तित्व का सजीव भाग है, वह सजीव दर्शकों के लिए है। हमारे यहाँ कालकृतियाँ लिखित रूप में हैं और वाचिक से लिप्यंतरित भी है। 10वीं शती के कन्नड़ के आदिकवि पंप की कृतियाँ लिखित रूप के लक्षण रखती हैं। प्रस्तावना के

संपर्क – अध्यक्ष, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35 फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली–110001

पद्यों में जो भाग ताड़पत्र के कुड़कीलापन के कारण नष्ट हो गया है, उसमें पंप का कथन है कि उन्होंने महाभारत के ऐतिहासिक वर्णन को 'शिलालेखन' के रूप में विश्व को भेंट दी है।'

पंप कवि के महाकाव्य का रचनाक्रम सुदीर्घ शिलालेखन के साथ सादृश्य रखता है। शिलालेखन शुद्ध रचनाक्रम का लेखन है। वह स्थान से बुद्ध और कुछ वर्तमान घटना को स्मरणीय बनाने के लिए है। पंप कवि के तत्काल का उद्देश्य था अपने आश्रित राजकुमार अरिकेसरी के ऐतिहासिक कार्य का संस्मरण बनाना। पंप का काव्य 'शिलालेखन', 'कथ्य' और 'लेखन' में रूपकों से या लाक्षणिकता से भरपूर है। भीष्म पितामह शरशय्या पर जो मृत्यु के क्षणों के इंतजार में थे, ऐसा लगता है कि 'वीरोचित कार्य के शिलालेख हों।' पंप कवि कहते हैं 'एक कुकवि का लिखना हाथों का अक्षर काडने का दर्द है और उसका पद्य लेखपट्टी का दुरुपयोग है।' जब कौरव वीर एक के बाद एक हारने लगे, तब पंप उनके वीर मरण–स्मरण में शोक गीत रचते हैं। ये सभी गवाह यह साबित करते हैं कि पंप कवि का प्रयास महाभारत का वर्णन जो वाचिक परंपरा में सुरक्षित था, उसे लिखित रूप देने का था। पंप कवि उस समय के थे जब भारत की भाषाएँ लेखन के स्तर पर पहुँच रही थीं और लेखन का मुख्य उद्देश्य स्मरणोत्सव मनाना। पंप ने अपने समकालीन इतिहास को महाभारत के समान उत्तेजक पाया और उन्होंने अपने काव्य में दोनों युगों के बीच रूपकात्मक या लाक्षणिक संबंध को प्रस्तुत किया।

लिखित काव्य पाठ्य का रचनाक्रम 'बद्ध' होता है, लिखित के स्थान संबंध के कारण। उसका प्रारंभ मध्य और अंत होता है। काव्य का संरचनाकार करारवाक् है कि यदि आपने उसमें एक शब्द भी मिलाया या निकाला, तो उसकी संरचना बिगड़ जाती है। काव्य का अर्थ उसकी संरचना पर निर्भर है और संरचना अर्थ को रूपायित करती है। पंप कवि की देन है 'सहोक्ति'। वह है दो सादृश्य घटनाओं की, जो समानांतर में घटी की अभिव्यक्ति है।

पंप महाकवि नर्तकी नीलांजना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नीलांजना रंग में प्रवेश करती है और प्रेक्षकों के मन में 'समानांतर ये घटनाएं और उनका सादृश्य पद्य का भाव प्रकाशित कर देती है। पंप कवि के दोनों महाकाव्य इस प्रकार के सादृश्यों, बिंबो से भरपूर हैं। जैसे प्रेमी एक दूसरे के बाहुओं में मरते हैं, भाई–भाई द्वेष से परस्पर मारकर मर जाते हैं, शतृत्व शास्त्रास्त्रों के साथ तेज बनता है आदि ऐसे अनेक प्रसंग। पात्र दर्पण–बिंब बन जाते हैं, घटनाएं बार–बार याद आती हैं, इतिहास पुनरावर्तित होता है।

ये सभी काव्यात्मक तंत्र लिखित पाठ्य में ही संभव है। लेखक एक घटना के वर्णन के बाद सोचने के लिए कुछ क्षण रूक सकता है। इस प्रकार जो घटना

हुई उसके वर्णन के साथ–साथ उसकी व्याख्या भी दे सकता है और इस प्रक्रिया में तथ्य और चेतना दोनों मिल जाती हैं। पंप कवि उस तथ्य के बारे में सतर्क थे कि काव्य का अर्थ पौराणिक गतकाल और ऐतिहासिक वर्तमान के संबंध से जुड़ा है। काव्य के चरित्र मूलतः महाभारत के जगत से संबंधित है, परंतु पंप के काव्य जगत में उसके महाभारत के समय से जुड़े रहने की सतर्कता है। भीम द्रौपदी के खुले बाल के लच्छों के वर्णन में कहता है 'महाभारत का आरंभ उसके खुले बाल के लच्छों में है, परंतु इस चेतना में संदिग्धता है। पात्र आग्रह करते हैं कि वे महाभारत के हैं और साथ ही साथ यह भी सत्य है कि वे महाभारत के नहीं हैं। अर्जुन जो अरिकेसरी का आदर्श रूप है, वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि यदि मैं कर्ण का वध नहीं करूँगा तो मैं नरसिंग और जकब्बे का पुत्र कहलाने लायक नहीं। नरसिंग और जकब्बे अरिकेसरी के असली माँ–बाप हैं। पंप कवि के चरित्र मूलकाव्य जगत से अपने को अलग करने के हताश प्रयत्न में महाकाव्य की भाषा को ही बिगाड़ देते हैं। परंतु यह सब यही प्रमाणित करते हैं कि लिखित पाठ्य में भूत और वर्तमान, काव्य संरचना के चेहरे को ही बदल देते हैं।

भारत में वाचिक परंपरा आज भी अस्तित्व में है, विशेषकर लोक साहित्य के क्षेत्र में। कथा–गायकों में वैविध्यपूर्ण गीतों का भण्डार ही रहता है, उन्हें वे भरे श्रोतागण को सुनाते हैं। 'ताळमद्दळे' समूहों का प्रदर्शन नाटक के स्क्रिप्ट के बिना और 'सण्णट' का प्रदर्शन भी अधिकतर उसका सुधरा भाग होता है। लोककथाओं में अधिकतर दादा–दादी के बच्चों को सुनायी कथाएं होती हैं। इस साहित्य का विशिष्ट लक्षण है उसकी रचनाओं का खुलापन। वाचिक परंपरा की रचनाओं का रचनाक्रम हमेशा बदलता रहता है और श्रोताओं की माँग के अनुसार उसका विस्तार होता रहता है। प्रो. ए.के. रामानुजम्, लोककथाओं के संपादक बताते हैं कि रसोई घर में दादी की सुनाई लोककथा कथा–वाचकों के सार्वजनिक स्थल के श्रोता–समूह के वयस्कों के लिए सुनाई लोककथा से अलग है। दादा की कहानियों में राजा–रानी के नाम न होते, परंतु अन्य सभी पात्र यहाँ तक पशु और शस्त्र के भी नाम होते हैं, जब उसी कथा को कथा–वाचक सुनाता है। पौराणिक कथाएं भी अपने विवरण को बदलती हैं, जब वह लोककवियों के हाथ में जाती हैं। वाचिक–परंपरा के कथन–काव्य के परिमाण और मात्रा की कोई सीमा नहीं होती। जब गायक और श्रोता थक जाते हैं तब उसका अंत होता है। सभी लोकगीत असीम वाक्य रचना का भ्रम पैदा करते हैं। गाते–गाते काव्य का आकार बनने से काव्य के स्वरूप को बता नहीं सकते।

लेखन परंपरा में लेखक मौजूद नहीं रहता, मगर वाचिक परंपरा में वह मौजूद रहता है। इसलिए काव्य कृति का रचनाक्रम रचनाकार की सृजनात्मक शक्ति पर निर्भर रहता है। तथ्य यह भी स्पष्ट करता है कि भक्ति परंपरा की रचनाएं वाचिक

परंपरा की हैं। भक्तिकाव्य स्वयं भगवान को ही संबोधित है, जिसके सर्वोच्च दर्शन का आनंद लेता है। भक्त कवियों में अधिकतर शिक्षित थे मगर उनका काव्य रचनाक्रम वाचिक परंपरा का ही था। मैं यहाँ दो उदाहरण दे सकता हूँ– हरिहर कवि और कुमार व्यास। हरिहर कवि की पंक्तियों का चलन अंतहीन, हर पंक्ति अपनी साथी पंक्ति को पुकारती है और सभी अंतहीन बिंब निर्माण करती हैं। बिंब पूर्णतया स्वर्ग में ही पाते हैं। इससे भक्त और भगवान के बीच के अंतहीन संबंध को समझने में सहायता मिलती हैं। हरिहर कवि के काव्य पर सामान्य शिकायत यह है कि उनके काव्य की पंक्तियाँ एक ही लय में नीरस संचरन करती हैं। परंतु यह एकतानता तांत्रिक आवश्यकता है, उस अर्थ में कि एकतानता श्रोता के ध्यान को उस भाव की गहराई की ओर मोड़ देती है। यह स्पष्ट है कि हरिहर कवि ने शायद यह कौशल वाचिक परंपरा से सीख लिया होगा।

कवि कुमार व्यास में यह थोड़ा भिन्न हैं। कुमार व्यास ने पंप कवि की भाँति कन्नड़ में महाभारत कथा के पुनः कथन की खोज की होगी। परंतु उनका उद्देश्य पंप की तरह वाचिक परंपरा को पूर्व स्थिति में लाना या लिखित पाठ्य में वाचिक परंपरा के उत्तम तत्व लाना न था। वे अपने प्रारंभिक पद्य में अपने चार विशिष्ट गुणों का गर्व से बखान करते हैं कि : 1. उन्होंने कभी भी काव्य रचते समय स्लेट और स्लेट पेंसिल का उपयोग न किया। 2. लिखते समय एक अक्षर को भी काटा नहीं। 3. दूसरे कवियों की शैली को कभी भी उधार न लिया। 4. वे लगातार लिखते ही गये कि हमेशा ताड़पत्र पर नुकीली लेखनी की आवाज सुनाई पड़ती रहे। सच में कुमार व्यास यह साबित करना चाहते हैं कि वे एक प्रतिभावान कवि थे और उनका काव्य असाधारण वाक् पटुता से युक्त है। परंतु ये सारे विवरण आश्चर्यजनक रूप में संदिग्ध हैं। कुमार व्यास जो अपने लेखन के बारे में वर्णन करते हैं, वह थोड़ा असामान्य है। परंतु जो लेखन असामान्य लगे, तब उस में वाच्य गुण आ जाता है। बोलने की क्रिया बेरोकटोक स्वछंद होती है। परंतु यह काव्य ऐसे वाच्य की तरह है कि उसके एक शब्द को भी हटा नहीं सकते। बोलते समय भी एक शब्द भी मिटा नहीं सकते क्योंकि वचन (बोल) वापस नहीं लिया जा सकता। बोलने की कला में बद्धता है और वचन उत्तरदायी होता है। जिस समाज में बोला वचन सर्वोच्च है, उसकी नैतिकता और जिस समाज में लिखित शब्द सत्य के दाखलात के रूप में रहता है उसकी नैतिकता अलग होती है। ऐसे समाज में मनुष्य की पहचान उसके वचन पर निर्भर है। विवादों के समय में बुजुर्गों को सौंपा जाता है, पुस्तकों पर निर्भर न रहकर। कुमार व्यास का काव्य ऐसे समाज से उत्पन्न था।

सभी भारतीय भाषाएँ संस्कृत को छोड़कर, जब वे लेखन के स्तर पर पहुँची, साहित्य निर्माण करने लगीं और उन्होंने लिखित और वाचिक दोनों परंपराओं से

प्रेरणा ली। भारत में वाचिक परंपरा साहित्य पूर्व युग की नहीं, जो सभ्यता की प्राथमिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। दोनों परंपराएँ भारतीय इतिहास की उक्त अवधि में साथ–साथ अस्तित्व में रही हो यह भी संभव है।

लोक परंपराएं इस शताब्दी में भी जीवित हैं। इन परंपराओं के सह–अस्तित्व के लिए मुख्य कारण है कि ये दोनों परंपराएं प्रत्येक मूल्य का प्रतिनिधित्व करने पर भी नैतिक दृष्टि से वे अलग नहीं हैं। भारत में सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अनुभव के लिए साक्षरता ही एकमात्र मार्ग नहीं है। हमारे कई अनुभावी और संत साक्षर नहीं थे, परंतु उन्होंने साहित्य की रचना की। ६वीं शती के कवि राजा नृपतुंग कहते हैं कि कन्नड़भाषी लोग पढ़ न पाने तब भी काव्य रचना कौशल से युक्त थे। इस वक्तव्य का जो विरोधाभासी तत्व है उसे गंभीर रूप में लेना चाहिए। इस वक्तव्य में यह सूचना मिलती है कि श्रेष्ठ सौंदर्यात्मक और काव्यात्मक अनुभव का अनक्षर के लिए निराकरण नहीं किया जाता था।

भारतीय साहित्य में लेखन परंपरा आधुनिक काल में शुरु होती है क्योंकि उस समय अधिकतर लेखक साक्षर थे। अब काव्य–रचना सुनाई जाने के बदले पढ़ी जाती है। इस लेखन परंपरा का प्रभाव आधुनिक काव्य की छंद–संरचना पर पड़ा। हमारे कवियों ने एमरसन के वक्तव्य कि केवल छंद नहीं, छंद–निर्माण के वाद–विवाद काव्य को बनाते हैं का अनुसरण विनयपूर्वक किया। फलस्वरूप आजकल सभी कवि मुक्तछंद का उपयोग कर रहे हैं। कवियों ने तो मुक्त–छंद का आसरा लिया, अपने काव्य को प्राचीन छंद–यांत्रिकता से मुक्त होने के लिए, परंतु वे मुक्त छंद की यंत्रिकता से बचना नहीं जानते हैं। पुराने छंद हमारे श्रवणेंद्रिय के लिए आकर्षक लगते थे, परंतु काव्य पढ़े जाने के कारण, काव्य की गेयता के लिए संभावना कम हो गयी है। कन्नड़ के संदर्भ में, तो केवल दो कवियों ने काव्य में वाचिक परंपरा से बहुत कुछ अपनाया। उनमें द. राबेन्द्रे और स्वयं मैं हूँ। हम अपनी रचना में लोक–छंद की प्रतिध्वनि को सुनते थे और हमारे काव्य ने, जब काव्य सुने जाते, तब उसके महत्व का लाभ उठाया।

पता नहीं, वाचिक परंपरा की हालत आधुनिक समय के नगरीकरण और औद्योगिकीकरण के कारण क्या होगी? पूर्ण साक्षरता के अभियान ने गति पकड़ी है और हमे मालूम है कि इसका उद्देश्य केवल राजनीतिक है। अच्छा यह होगा कि पूर्ण रूप से अदृश्य होने से पहले इसके कुछ कौशल का संरक्षण करें। हमारे धार्मिक संस्कारों में जहाँ गायन अनिवार्य है और हमारे कुछ कला–रूपों में जहाँ वाक्चातुर्य अनिवार्य है, वहाँ वाचिक–परंपरा सहायक सिद्ध होगी।

■

आजीवक धर्म में पितृसत्ता

कैलाश दहिया

दुनिया भर में हर साल जून महीने के तीसरे रविवार को 'फादर्स डे' मनाया जाता है। इस साल २१ जून, २०२० को भी 'फादर्स डे' मनाया गया। इस दिन जिन लोगों के पिता नहीं रहे वे उन्हें याद करते हैं, और जिन के पिता हैं वे उन के साथ सेलिब्रेट करते हैं। एक तरह से यह दिन साल दर साल उत्सव में बदलता जा रहा है। जो सही भी है, क्योंकि संतान की पैदाइश में पिता की भी उतनी ही भूमिका है जितनी मां की। तो सभ्य सभ्यताएं 'मदर्स डे' और 'फादर्स डे' को बेहद गरिमा से मनाती हैं। उधर जार कैसे फादर्स डे का समर्थन कर सकता है, जब उसे पता ही नहीं रहता कि उस के जारकर्म की पैदाइश कहां–कहां पल रही हैं। वह जारिणी से बच्चे जरूर पैदा करता है लेकिन उन के पालन पोषण से भागता फिरता है। ऐसे में यह भी स्वाभाविक है कि जारकर्म की पैदाइश कोई 'अक्करमाशी' फादर्स डे कैसे मना सकता है?

इधर, देखा गया है कि कुछ दलित लेखक–लेखिकाओं के दिमाग इस हद तक कुंद हो चुके हैं कि ये फादर्स डे का विरोध करते पाए जाते हैं। इन्होंने पता नहीं पितृसत्ता का क्या मतलब निकाला हुआ है, ये मंचों पर भी पिता के रूप में पुरुष को कोसते पाए जाते हैं। ऐसे में आजीवक इन के बारे में 'जारकर्म के सिद्धांत' के अंतर्गत अर्थ निकालने को स्वतंत्र हैं। मराठी दलित लेखक–लेखिकाओं का तो पितृसत्ता का विरोध करना कुछ हद तक समझ में आता है, क्योंकि अक्करमाशी, छोरा कोलाहटी का और ऐसी ही आत्मकथाओं में इन के दर्द व्यक्त हुए हैं। कई मराठी लेखिकाएं भी जारकर्म के पक्ष में अपना लेखन कर चुकी हैं, ऐसे में इन की तरफ से पितृसत्ता का विरोध आ सकता है। लेकिन, इधर तो कबीर और धर्मवीर अपनी लाठी से जार की कमर तोड़ देते हैं। तब कुछ हिंदी दलित लेखक–लेखिकाओं का पितृसत्ता का विरोध करना किसी षड्यंत्र की तरफ ही इशारा करता है। इस पर तुर्रा यह है कि पितृसत्ता का विरोध करने वाले ये लिखाड़ी दलित अपने पिता की तारीफ करते देखे गए हैं। तब पता नहीं पितृसत्ता के विरोध के नाम पर ये किस पिता की आलोचना कर रहे होते हैं!

बताया जाए, मानव सभ्यता के विकास में अभी तक दो ही सत्ताएं रही हैं,

संपर्क – 89–सी, ए 2 बी, एकता अपार्टमेंट, पश्चिम विहार, नई दिल्ली–110063

मातृसत्ता और पितृसत्ता। इन दोनों की आपसी प्रतिस्पर्धा की सारी दुनिया तारीफ करती है। इधर इन दोनों सत्ताओं से इतर तीसरी सत्ता की खोज की गई है, जिसे 'जारसत्ता' कहते हैं। इस जारसत्ता की खोज डॉ. धर्मवीर ने की है। यह कार्ल मार्क्स के द्वद्वांत्मक भौतिकवाद से आगे की खोज है। तभी वे आज महान आजीवक चिंतक के रूप में जाने जा रहे हैं। डॉ. साहब ने लिखा है– 'मातृसत्ता भी ठीक है पितृसत्ता भी ठीक है और इन दोनों की आपसी होड़ और शिकायत भी ठीक है, पर यह तीसरी जारसत्ता कहां से आ धमकी है, जो विवाह और परिवार को खोखले और राष्ट्र को कमजोर कर रही है? असल में पितृसत्ता के विरोधी केवल पिता का विरोध करते पाए जाते हैं। ये यह कभी नहीं बताते कि ये चाहते क्या हैं। हां, कुछ स्त्रियां ऐसी हैं जो मातृसत्ता की बात करती हैं, और मातृसत्ता के नाम पर किसी से भी बच्चा पैदा करने की वकालत कर बैठती हैं। इस में रमणिका गुप्ता जैसी लिख बैठती है, 'पितृत्व मात्र विश्वास पर आधारित है लेकिन मातृत्व एक सत्य होता है। वह बच्चा अपनी मां की संतान हैं– क्या इतना प्रमाण काफी नहीं है पुरुष के लिए? उस पर पिता की मोहर क्यों लगे?' दरअसल, रमणिका गुप्ता की यही पंक्तियां हैं जो कुछ दलित लेखक–लेखिकाओं को पितृसत्ता के विरोध के लिए उकसाती हैं। ऐसे में दलित लेखक से पूछने का मन करता है, अगर उस की पत्नी अपने गर्भ में दूसरे का बीज लेकर आ गई, तो क्या वह उसे जिलाएगा? क्या वह उसका बाप होना स्वीकार करेगा? क्या वह उसका भरण–पोषण करेगा और अपनी जीवन भर की कमाई उस पर लुटाएगा? 'प्रेमचंद – सामंत का मुंशी' में इसी बात का खुलासा तो डॉ. धर्मवीर ने किया है। इस से पितृसत्ता का विरोध करने वाली तथाकथित दलित लेखिकाओं की मानसिक स्थिति का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है।

असल में, पितृसत्ता के विरोध का अर्थ जारसत्ता का समर्थन ही होता है। इसका अर्थ मातृसत्ता का पक्ष लेना कतई नहीं होता। कोई स्त्री अपने विवाहित पति से ही तो गर्भा होगी। अगर वह इस बात से इंकार करती है तो समझ जाइए वह जारकर्म के पक्ष में है, तभी डॉ. धर्मवीर कहते हैं – 'बच्चों के हक में सोचते – सोचते हम परिवार तक आए हैं, लेकिन परिवार के किसी भी नियोजन में यह पहले से ही सम्मिलित रहता है कि बच्चों की पैदाइश वैवाहिक पति से हो – और मैथुन विवाह से बाहर न हो। मनुष्य को इतना सभ्य बनना ही है, चाहे वह ब्राह्मण हो, सामंत हो, या दुनिया का कोई और।' तो दलित लेखक–लेखिकाएं जान लें, ये भी 'दुनिया का कोई और' के अंतर्गत ही आते हैं। दलित होने के नाते इन्हें कोई विशेषाधिकार मिलने नहीं जा रहे। यहां यह बताने में भी कोई हिचक नहीं है कि मातृसत्ता में भी जारकर्म पसरा पड़ा रहता है। जिस में पता ही नहीं लगता कि स्त्री किस–किस से बच्चे पैदा कर रही है। इस में स्त्री अपनी खुद की पैदा की संतान से बच्चे पैदा करती रही है, राहुल सांकृत्यायन ने इस बात की गवाही देते हुए लिखा है– 'निशा की भांति ही दूसरे परिवारों पर भी उनकी माताओं का शासन

था, पिता का नहीं। वस्तुतः वहां किस का पिता कौन है, यह बतलाना असंभव था। निशा को आठ पुत्रियां और छह पुत्र पैदा हुए, जिसमें चार लड़कियां और तीन पुत्र अब भी उसकी पचपन वर्ष की अवस्था में मौजूद हैं। इनके निशा – संतान होने में संदेह नहीं, क्योंकि इसके लिए प्रसव का साक्ष्य मौजूद है। किंतु उनका बाप कौन है, इसे बताना संभव नहीं है। निशा के पहले जब उसकी मां–बूढ़ी दादी– का राज्य था, तब बूढ़ी दादी– उस वक्त प्रौढ़ा– के कितने ही भाई पति, कितने ही पुत्र पति थे, जिन्होंने कितनी ही बार निशा के साथ नाचकर, गाकर उसके प्रेम का पात्र बनने में सफलता पाई थी, फिर स्वयं रानी बन जाने पर निशा की निरंतर बदलती प्रेमाकांक्षा को उसके भाई या सयाने पुत्र ठुकराने की हिम्मत नहीं रखते थे। इसीलिए निशा की जीवित सातों संतानों में किसका कौन बाप है, यह कहना असंभव है।'

ऐसा नहीं है कि सांकृत्यायन ही मातृसत्ता की ऐसी जानकारी रखते हैं। इन के पूर्वज वात्स्यायन ने तो ऐसी मातृसत्ता का जो वर्णन किया है उसे बताते हुए कलम भी रुकती है, उन्होंने लिखा है– 'उस अन्तः पुरवासिनी रमणी को एक तरुण गोदी में बैठाता था, दूसरा नाखूनों और दांतों से उस पर प्रहार करता है। तीसरा उससे संभोग करता है, चौथा मुंह चूमता है, पांचवां स्तनों में दांत गड़ाता है, इस प्रकार बारी–बारी से अनेक युवक राग बढ़ाते तथा रतिक्रिया तब तक करते रहते हैं जब तक वह स्त्री पूर्ण तृप्त नहीं हो जाती।' ऐसे ही भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है– 'मैं नारी हूं, पितृसत्ताक– युग से पूर्व मातृसत्ताक– युग की भारतीय नारी, जिसने वनों का शासन किया, जनों का निग्रह। तब मैं नितांत नग्नावस्था में गिरी– शिखरों पर कुलांच भरती थी,... पुरुष मेरा दास था, मेरे श्रम से उपार्जित आहार का आश्रित।... नर तब मेरा मुंह ताकता, मेरी भाव–भंगिमा देखता, मेरे तेवरों से कांप उठता। तब मैं जब चाहती, उसे बदल सकती थी। उसके कालभुक्त जर्जर गात से मेरी अभितृप्ति जब न होती, मैं तत्काल उसे उसके भाग्य पर छोड़ अन्यत्र चली जाती, तरुणायत पुत्र को उसका स्थानापन्न करती और अपनी स्थिति कमजोर देखते ही शक्तिमुखी कन्या के मार्ग से हट जाती– पर हट आसानी से न जाती। कन्या स्वाभाविक उत्तराधिकारी थी।... अक्सर तब मेरा अंत संघर्ष में होता था, मां–बेटी के संघर्ष में।' तो, देखा जा सकता है मातृसत्ता में सभ्यता कैसे केवल सेक्स संबंधों तक सिमटी रही थी, जिस का समर्थन कुछ दलित लेखक विशेषतः लेखिकाएं करती पाई जाती हैं। आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर ने लिखा है– 'इतिहास में मातृसत्ता इतनी दूर जा चुकी है कि उसे पकड़ पाना अब मुश्किल है। फिर भी यदि मनुष्य को मातृसत्ता देखने की बहुत चाहत है तो वह कुत्तों और बिल्लियों में इसे देखता रह सकता है।' तो, अबाध सेक्स संबंधों की वकालत करने वाले ही पितृसत्ता को कोसते पाए जाते हैं। लेकिन वे यह कभी नहीं बताते कि इनकी पैदाइश का भरण–पोषण कौन करेगा? असल में, पितृसत्ता के विरोध का नाला सीधा जारकर्म में गिरता है। इस में यह भी ध्यान रहे, पितृसत्ता का विरोध

स्त्री अधिकारों के नाम पर किया जाता है– यानी स्त्री जारकर्म की छूट चाहती है। इस बात पर तो जारों की बांछे खिल जाती हैं।

ध्यान रहे, मातृसत्ता में स्त्री ताकतवर है, यह शिकार और कृषि आधारित श्रम कर रही है। वह अपनी ताकत के बल पर पुरुषों का चयन कर रही है। इधर, पितृसत्ता ने उसे जिम्मेवार बनाया है। अब स्त्री उस तरह से ताकतवर नहीं रह गई है। अब वह पुरुष को अपने जाल में फंसा घर उससे सेक्स करने पर आमादा है। यही जारकर्म है। स्त्री सेक्स तो मनचाहे पुरुषों से करना चाहती है, जो जार होता और भरण–पोषण पति से चाहती है। ऐसे कैसे चलने दिया जाएगा? मातृसत्ता के नाम पर स्त्री जारों की होना चाहती है। यही इसका पितृसत्ता का विरोध है। दरअसल, मातृसत्ता में पुरुष निरीह रहा है, इधर जारसत्ता में स्त्री का निरीह होने का ढोंग है। जार इसी ढोंग का ढिंढोरा पीटते दिखाई देते हैं। यूं, समझ जाइए, जो भी स्त्री के निरीह और अबला होने की बात कहता है, वह पक्का जार होता है। स्त्री इसी जार के पीछे छुपना चाहती है, लेकिन आजीवक चिंतन ने इसके समेत इसके जार का चेहरा सारी दुनिया को दिखा दिया है। असल में, होता क्या है, या तो बच्चा अपने पिता की संतान होगा, अगर पिता से पैदा नहीं हुआ है तब निश्चित जानिए वह जारकर्म की पैदाइश अर्थात 'अक्करमाशी' है। यानी, उसे स्त्री ने अपने जार से पैदा किया है। तब ऐसी स्त्री पितृसत्ता अर्थात अपने पति का विरोध ही करेगी। पति का यह विरोध वह अपने जार के पक्ष में ही करती है। तो, पितृसत्ता का विरोध सीधे जारकर्म के समर्थन से जुड़ा है। पितृसत्ता के विरोध की बाकी बातें अर्थहीन हैं।

एक बात और यहां बताई जा सकती है, आदिवासी समाजों में आज भी मातृसत्ता के ही लक्षण दिखाई देते हैं। इस का अर्थ है कि ऐसे समाज संबंधों के निम्नतम स्तर पर जी रहे हैं। यही इन के पिछड़े होने की निशानी है। कोई इस बात पर गर्व करता है तो समझ जाइए उस का अभी मानसिक विकास रुका हुआ है। असल में, मूल सवाल पैतृकता का है। कोई अगर किसी दूसरे के जारकर्म की पैदाइश को पाल कर खुश होता है, तो तब क्या कहा जा सकता है?

दलित लेखिकाओं में पितृसत्ता विरोध की परंपरा कहां से आई है? क्या सचमुच इन के पति और पिता इन्हें किसी भी रूप में प्रताड़ित करते रहे हैं? देखा गया है, अधिकांश लेखक बनी दलित स्त्रियां 'मनुस्मृति' का नाम ले कर पितृसत्ता का विरोध करती हैं। उधर बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर पूछते रह जाते हैं, 'मनु ने पितृ– सावर्ण्य को मातृ सावर्ण्य में क्यों परिवर्तित किया?' यह पितृ सावर्ण्य पितृसत्ता ही है। है ना जबरदस्त विरोधाभास! मनु इस देश पर मातृसत्ता लादना चाह रहे हैं और मातृसत्ता को चाहने वाली दलित स्त्रियां मनु को कोस रही हैं। इस विरोधाभास को कैसे समझा जाए? दरअसल, इन कथित दलित स्त्रियों के पितृसत्ता के विरोध के पीछे आजीवक चिंतन की वह मूल मांग है, जिस में जारिणी को तलाक की कही गई है। इसी का विस्तार है जार की संतान जार पाले,

अक्करमाशी को जार की संपत्ति दी जाए। इतना ही नहीं हमारा तो यहां तक कहना है कि जारिणी का उस के जार के साथ विवाह कर दिया जाए। हमारी इन्हीं मांगों से लेखिका बनी दलित स्त्रियां भयभीत हो गई हैं, पता नहीं क्यों?

दरअसल, इस बात को समझने के लिए हमें बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर द्वारा लिखी 'हिंदू धर्म की पहेलियां' नामक किताब का १६ वां अध्याय, जो 'पितृत्व से मातृत्व की ओर – ब्राह्मण इससे क्या लाभ प्राप्त करना चाहते थे?', देखना होगा, जिस में विवाहों के जो आठ प्रकार गिनाए गए हैं, उन से दलितों अर्थात आजीवकों का किसी भी तरह का कोई संबंध नहीं है। इस में यह भी ध्यान रहे, बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर 'पुनर्विवाह' में गए हैं, जो आजीवक परंपरा में ही संभव है। आजीवक परंपरा में विवाह एक सामाजिक समझौता है, जिस में जारकर्म पर तलाक की व्यवस्था रही है। दुख की बात यह है कि डॉ. अंबेडकर ब्राह्मणी विवाह के प्रकार तो गिना रहे हैं, लेकिन अपनी परंपरा की विवाह व्यवस्था पर चुप्पी साध गए हैं। इन विवाहों के बाद उन्होंने 'तेरह प्रकार के पुत्र' गिनाए हैं जो निम्नलिखित हैं– '१. औरस, २. क्षेत्रज, ३. पुत्रिका पुत्र, ४. कानीन, ५. गुह्यज, ६. पुनर्भव, ७. सहोदज, ८. दत्तक, ९. कृत्रिम, १०. क्रीत, ११. अपविध, १२. स्वयंदत्त, १३. निषाद।'

ऊपर गिनाई इन संतानों में आजीवक केवल 'औरस पुत्र' और 'दत्तक पुत्र' को ही मान्यता देते हैं। ध्यान रहे, यह किसी ब्राह्मणी परंपरा के एकाधिकार का मामला नहीं। यह आजीवकों में हजारों सालों से चली आ रही परंपरा है, कि पति–पत्नी की औरस संतान को ही उत्तराधिकार में संपत्ति मिलेगी। ऐसे ही अगर किसी दंपत्ति के संतान नहीं हो पाई है, तो वह नियमानुसार संतान गोद ले सकता है। डॉ. अंबेडकर लिखते हैं– 'पुत्रत्व विधान में अत्यंत दोष थे, क्योंकि शूद्रों के पुत्र ब्राह्मण बन सकते थे। उदाहरणार्थ, गुह्यज, सहोदज, कानीन। कौन कहता है कि ये शूद्र से अथवा ब्राह्मण से क्षत्रिय या वैश्य से उत्पन्न हुए हैं? ये संदेह अनुलोम प्रथा से संभव थे, जिसमें यह कानूनी मान्यता थी जो पितृवर्ण प्रथा से संबद्ध थी, जिसके अनुसार यह गुंजाइश थी कि निम्न वर्ण के व्यक्ति उच्च वर्ण में आ जाएं।' पता नहीं डॉ. अंबेडकर कैसे मान रहे हैं कि गुह्यज, सहोदज और कानीन जैसे जार संबंधों से पैदा होने वाली संतानें ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य मान ली जाती हैं? अगर ऐसा होता तो तब लड़ाई ही किस बात की होती? असल में जारकर्म से उत्पन्न संतान को स्त्री को पालना पड़ता है और उसे उस की जारिणी मां की जाति का माना ही जाता है। इधर, आजीवक ही तो बता रहे हैं कि अक्करमाशी की जाति उसके पैदा करने वाले जार बाप की ही होगी। इसी बात पर ब्राह्मण और कुछ दलित लेखिकाएं हम से लड़ रही हैं। ना जाने डॉ. अंबेडकर कैसे देख नहीं पाए कि गुह्यज, सहोदज और कानीन संबंधों से पैदा संतान की मार कमजोर वर्ग पर ही पड़ती है। जिस केस में उच्च वर्णीय स्त्री ऐसे संबंधों में संलग्न पाई जाती है, उस की उसके गर्भ और गर्भ के पिता सहित हत्या कर दी जाती है।

ऐसे ही बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर ने लिखा है– 'कोई शूद्र कभी ब्राह्मण,

क्षत्रिय अथवा वैश्य नहीं बन सकता था किंतु किसी शूद्र स्त्री की संतान वैश्य बन सकती थी यदि वैश्य का उससे विवाह हो जाता। इसी प्रकार वह संतान क्षत्रिय और ब्राह्मण भी बन सकती थी यदि उसकी शादी क्षत्रिय या ब्राह्मण से संपन्न हो जाती।' असल में यही वह जगह है जहां दलित स्त्रियां फंसी हुई हैं। बताया जा सकता है, दलित स्त्री के साथ तो कभी छुआछूत बरती ही नहीं गई। बलात्कार और जारकर्म द्वारा इसे गर्भा किया गया है। आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर ने तो बताया ही हैं– 'दलित पुरुषों के साथ अस्पृश्यता बरती जाती है लेकिन दलित नारियों के साथ जारकर्म और बलात्कार के अपराध किए जाते हैं। दलित नारियों से कोई द्विज पुरुष छुआछूत नहीं बरतता बल्कि जारकर्म और बलात्कार के द्वारा उनका मान भंग करता है। जारकर्म के द्वारा दलित नारी की ताकत खत्म की जाती है। एक जार औरत किस बात के लिए कुर्बान होगी?' तो, ऐसी औरतें पितृसत्ता के विरोध में मंचों पर इकट्ठी होती हैं, और हमारी युवा होती लड़कियों को गुमराह करती हैं। यह भी सच है कि स्त्रियां हमारी हैं, इधर पढ़–लिखकर कुछ दलित स्त्रियां चाहती हैं कि वह और इस की संतान ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बन जाए। एक दलित लेखिका तो ठकुरानी बन ही गई है और अपने बच्चों का परिचय भी ठाकुर कह कर करवाती है। दरअसल, पितृसत्ता विरोधी दलित स्त्री अपने गर्भ से अपने पति विरोधी संतान पैदा करती रही है। तो, पितृसत्ता विरोध के नाम पर लेखिका बन गई दलित स्त्री की कुछ ऐसी ही चाहना है। उधर, इसके विपरीत अगर कोई द्विज स्त्री प्रेम विवाह के नाम पर दलित पुरुष से विवाह कर लेती है तो उस की संतान भी पिता विरोधी ही हो जाती है। अब एक 'चमार भंगी' से विवाह कर बैठी ब्राह्मणी की संतान तो यह सोच कर ही विक्षिप्त हो सकती है। ऐसे में वह पिता विरोधी ही होनी है। द्विजों में जितने प्रकार के पुत्र डॉ. अंबेडकर ने खोजे हैं उन में कुछ यहां ज्यों के त्यों बताए जा रहे हैं। आगे बढ़ने से पहले, यहां बताया जा सकता है कि कोई कैसे अपनी संतान पैदा करता है, उस से आजीवकों को कुछ भी लेना देना नहीं है। लेकिन, हमारी कुछ दलित लेखिकाएं ब्राह्मण के सीखाए में हैं। ऐसे में उन की जिज्ञासाओं के समाधान जरूरी हो जाते हैं।

आजीवक चिंतन की केंद्रीय मांग है 'जारकर्म पर तलाक'। जारकर्म से किस तरह से जारज बच्चे पैदा होते हैं वह यहां बताया जा सकता है। ये जारज संतान पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज, कानीन, गुह्यज, सहोदज, पुनर्भव और पारासव या निषाद पुत्र हैं। आजीवक चिंतन दलितों में ऐसी जारज संतानों पर रोक लगाता है। इसी बात से कुछ दलित लेखिकाओं ने शोर मचा रखा है। इस में ये पितृसत्ता का रोना लेकर बैठ गई हैं। यह जारज संतानें कैसे पैदा होती हैं, इसे बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर की लिखित से ही जाना जा सकता है, उन्होंने लिखा है– 'यदि कन्या अपने पिता के घर अवैध संबंधों के कारण गर्भवती हो जाती और किसी पुत्र को जन्म देती और यदि फिर उसका विवाह हो जाए तो विवाह पूर्व जन्मे पुत्र पर उसके पति का अधिकार हो जाता है जो 'कानीन' कहलाता था।' यहां बताया

जा सकता है, कर्ण ऐसे ही कानीन पुत्र था। लेकिन, उसे कुंती के पति ने तो स्वीकार नहीं किया। यह बात डॉ. अंबेडकर को ध्यान रखनी चाहिए थी। ऐसा भी लगता है कि यह कानीन ही घिस कर कर्ण बन गया।

ऐसे ही, 'गुह्यज' वे पुत्र होते थे, जब किसी स्त्री के अपने पति से संबंध तो हों परंतु यह समझना कठिन हो कि पुत्र उसी का है अर्थात जहां यह संदेह हो कि अनाचार का परिणाम है। जब इस बात का साक्ष्य न हो तो अनुमान के आधार पर वह पुत्र उस स्त्री के पति का होता है। वह इसी कारण 'गुह्यज' कहलाता है कि उसका पिता संदिग्ध है।' बताया जाए, यह 'गुह्यज' ही आजीवक चिंतन में 'अक्करमाशी' है। पता चलता है कि ऐसे गुह्यज संबंधों की वजह से ही आए दिन हत्या, आत्महत्या होना आम बात है। बहुत से तो इस वजह से अवसाद और पागलपन के शिकार हो जाते हैं। कभी–कभी पति ऐसे संबंध के कारण घर छोड़कर जंगल चला जाता है और ज्ञान देने के नाम पर पूरी दुनिया को अंधेरे में रखता है। 'सहोदज' में पुत्र होते थे (हैं) जब कोई कन्या अपने विवाह के समय गर्भवती होती थी और यह निश्चय नहीं होता था कि पुत्र उसके पति का है जिसके उस कन्या के साथ पहले से ही शारीरिक संबंध होते थे अथवा वह किसी अन्य व्यक्ति का बीज है। परंतु यह निश्चिंत था 'सहोदज' उस गर्भवती स्त्री से उस व्यक्ति का उत्पन्न पुत्र माना जाता था जिसके साथ उस कन्या का विवाह होता था।' ध्यान रहे, ऐसे 'सहोदज' अक्सर कूड़े की ढेर पर पाए जाते हैं, जिन्हें आवारा कुत्ते चीर–फाड़ कर खा जाते हैं।

'पुनर्भव उस स्त्री का पुत्र है जिसे उसके पति ने त्याग दिया हो और वह अन्य के साथ सहवास के पश्चात पुनः अपने घर आ गई हो। इससे ऐसी स्त्री के पुत्र का भी बोध होता है जो एक नपुंसक, अस्पृश्य अथवा पागल या मृत पति के बाद दूसरा पति चुन लेती है।' किसी स्त्री को उस का पति क्यों त्यागता है इस बात को बच्चा–बच्चा जानता है। वह जारिणी होती है। फिर नपुंसक और पागल को तलाक देने से किस ने रोका है? जहां तक मृत पति की बात है तो पुनर्विवाह इसका समाधान है, जो तलाक के मामले में भी लागू होता है। यहां डॉ. धर्मवीर का कथन ध्यान देने लायक है, वे बताते हैं– 'सच बात यह है कि संस्कृत भाषा में तलाक के अर्थ का कोई शब्द नहीं है। यदि संस्कृत भाषा में तलाक के लिए शब्द होता तो बुद्ध को घर छोड़कर भागना न पड़ता।' फिर, यहां डॉ. अंबेडकर ने बेवजह अस्पृश्य का नाम लिया है, क्या इन्हें ध्यान नहीं रहा कि इन के साथ भी ये अस्पृश्यता का बर्ताव किया गया था? 'पारासव' से वे पुत्र होते थे जो किसी ब्राह्मण द्वारा शूद्र नारी से उत्पन्न किए जाते थे।' इसमें निषाद भी है। यह निश्चित है कि ऐसी जारज औलाद भी ब्राह्मण के जारकर्म द्वारा पैदा हो रही है। अगर ये विवाह द्वारा पैदा होते तो इन्हें ब्राह्मण ही माना जाना चाहिए था।

अब हम बात करते हैं 'पुत्री का पुत्र' और 'क्षेत्रज' की।

बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर ने सूचित किया है– 'पुत्रिका पुत्र से आशय है,

पुत्री से उत्पन्न पुत्र। इसका महत्व यह है कि इस प्रथा के अनुसार कोई पिता, जिसका अपना पुत्र नहीं होता था, वह अपनी पुत्री से किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराता था। यदि इस शारीरिक संबंध के कारण उस कन्या को पुत्र प्राप्त हो जाता था तो वह बालक पुत्री का पुत्र कहा जाता है। किसी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त था कि अपनी पुत्री का विवाह कर देने के पश्चात भी पुत्र प्राप्ति हेतु उसे विवश कर सकता था कि उसकी पुत्री उसके द्वारा नियत पुरुष के साथ संभोग करे। इसी कारण यह चेतावनी दी जाती थी कि उस कन्या के साथ विवाह न किया जाए, जिसके भ्राता (भाई) न हों।' इसे ब्राह्मणों की विशेष व्यवस्था के रूप में देखा जाना चाहिए। कुप्रभाव के रूप इसे आज भी चलन में देखा जा सकता है कि बिना भाई की बहनों से आज भी विवाह में दिक्कत आती है।

'क्षेत्रज के शब्दार्थ और भावार्थ समान हैं। इसका अर्थ है– क्षेत्र से उत्पन्न पुत्र– क्षेत्र का अर्थ है पत्नी। हिंदू (ब्राह्मण) आदर्शों के अनुरूप स्त्री खेत के समान है और पति उस खेत का स्वामी है। यदि पति की मृत्यु हो जाती थी अथवा वह जीवित होता था परंतु नपुंसक होता था अथवा उसे असाध्य रोग होता था तो उसका भ्राता अथवा अन्य सपिंड व्यक्ति उससे पुत्र उत्पन्न कर सकता था। इस प्रथा को 'नियोग' कहते थे। इस प्रकार उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता था।' जाहिर है कि यहां भी जारकर्म को प्रश्रय दिया गया है। पति की मृत्यु, नपुंसक और असाध्य रोगी की स्त्री को पुनर्विवाह में जाना चाहिए। भ्राता अथवा सपिण्ड व्यक्ति से पुत्र उत्पन्न करने अर्थात 'नियोग' से सामान्य हालात में भी जारकर्म को ही बढ़ावा मिलता है।

देखा जा सकता है क्षेत्रज, कानीन, गुह्यज, सहोदज, पुनर्भव, पारासव और पुत्रिका पुत्र जैसी जो संतान पैदा होती हैं, उसे दलित विमर्श में जारकर्म से पैदा हुई संतान ही माना गया है। इस जारकर्म से पैदा हुई संतान का पिता कौन है, यह आजीवक चिंतन की अगली मांग है। ऐसी संतान के जारज पिता का पता लगाने के लिए ही 'दलित चिंतन' में डी.एन.ए. टेस्ट की मांग की जा रही है। इस से जारों को सांप सूंघ गया है। लेकिन, दलित लेखिकाएं इस बात पर हाय तौबा मचा रही हैं, पता नहीं क्यों? ये डी.एन.ए. टेस्ट के विरोध में उतरी हुई हैं। इसे ये पितृसत्ता के अमानवीय चेहरे के रूप में प्रस्तुत करती हैं। अरे भई, डी.एन.ए. टेस्ट से यही तो पता चलना है कि बच्चे का वास्तविक पिता कौन है। इस बात के लिए इतनी हाय–हाय क्यों? असल में, जारकर्म के लिए स्त्री ही जिम्मेदार है। वह नहीं चाहती कि डी.एन.ए. टेस्ट हो। क्योंकि, इसके जारकर्म का खुलासा होता है।

द्विजों को ऐसी संतान के पैदा होने पर कोई आपत्ति नहीं होती। क्योंकि, इन्हें लेकर इन की कोई जिम्मेवारी नहीं बन रही। अपने ग्रंथों में इन्होंने ऐसी व्यवस्था की है कि ऐसी जारज संतानों को इसे पैदा करने वाली स्त्री और उस का पति ही पाले। यही वजह है कि मनु ने पितृ– सावर्ण्य को मातृ सावर्ण्य में परिवर्तित कर दिया, और यही डॉ. अंबेडकर जानना चाह रहे हैं। इसी में जमीन,

जमीन के स्वामी और बीज डालने वाले के संबंधों की व्याख्या भी हो जाती है।

असल में डॉ. अंबेडकर को स्पष्ट करना चाहिए था, कि अगर किसी का पति या पत्नी नपुंसक, पागल, असाध्य रोग से पीड़ित या जार है तो उसे अपने पति या पत्नी से तलाक ले लेना चाहिए। इस के बाद वे तेरह के स्थान पर औरस और दत्तक पुत्र की ही बात करते। वे यह भी जान जाते कि ब्राह्मण विवाह व्यवस्था शत–प्रतिशत जारकर्म को प्रश्रय देती है। लेकिन लगता है उन्हें तो ब्राह्मण व्यवस्था का भी अध्ययन करना था। अपने चिंतन के लिए वे बुद्ध की शरण में गए हैं, जहां मातृसत्ता है न पितृसत्ता। मठों–आश्रमों में कौन–सी सत्ता का बोलबाला रहता है, यह बताने की जरूरत नहीं है। वैसे बताया जाए, 'बुद्ध ने भिक्षुणियों के १३३ क्रियाकलापों पर पूरी तरह से प्रतिबंध लगा दिया। उन्होंने रहन–सहन के मामले में हिंदू विधवाओं और बौद्ध भिक्षुणियों में कोई फर्क नहीं रहने दिया। सवाल है इतना प्रतिबंध लगाने के बावजूद क्या भिक्षुणियां मैथुन कर्म से विरत हो पाईं? बुद्ध के लिए दुख है कि उन के इतना प्रतिबंध लगाने के बावजूद भिक्षुणियां गर्भवती हुई थीं।' पूछा जाए, ऐसा गर्भधारण कौन सी सत्ता में होता है? पितृसत्ता में यह हरगिज संभव नहीं। प्रसंगवश, यहां बताया जा सकता है, अगर किसी का पति भिक्षुक, मुनि और संन्यासी हो जाता है, तो क्या स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं मिलना चाहिए?

दरअसल, पितृसत्ता का विरोध मनुस्मृति के विरोध के नाम पर किया जाता है। वैसे पूछा जाए, जिस किताब को बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर फूंक चुके हैं, तब उसके विरोध का क्या मतलब रह जाता है? दूसरे, अगर फूंक देने के बाद भी मनुस्मृति जिंदा है और ये उससे संचालित हो रहे हैं, तब इनके विरोध का क्या अर्थ है? यानी, इन्होंने इस ब्राह्मणी किताब को अपने दिमाग में जगह दे रखी है। इधर, आजीवक चिंतन में ऐसी किताबों को उन्हीं लोगों तक सीमित कर दिया है जो इनके रचयिता हैं। दरअसल, पितृसत्ता का विरोध करने वाली कथित दलित लेखिकाएं पति का विरोध करते हुए मातृसत्ता के सपने देखती हैं, जिसमें स्त्री को सेक्स की अपार स्वतंत्रता रही है। एक तरह से जो निरा पशु जीवन है। विमल थोराट ने तो लिखा ही है, 'जब तक स्त्री की अपत्य निर्मिति में महान भूमिका को पृथ्वी की निर्मित सामर्थ्य सदृश देखा जाता रहा तब तक मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था कायम थी। अपत्य निर्मित में पुरुष के महत्व का अहसास और कृषि में 'हल' की खोज से पुरुष सत्ता का आगमन हुआ।' बताइए, मातृसत्ता में पसरे पड़े जारकर्म का कैसा महिमामंडन किया जा रहा है! क्या इन्हें पता नहीं कि मातृसत्ता में मनुष्य जंगलीपन से आगे नहीं बढ़ पाया था। ये जिसे अपत्य कह रही हैं, वहां पति की उपस्थिति नहीं है। फिर, ये पति के निर्मिति की बात कह रही हैं, क्या इन्हें बताना पड़ेगा कि पति की निर्मिति के साथ ही पत्नी की निर्मिति जुड़ी है। पति–पत्नी के रिश्ते के अस्तित्व में आने से पहले स्त्री–पुरुष के केवल जैविक संबंध थे। जिस की वजह से मानव सभ्यता रुकी पड़ी थी। पति–पत्नी के संबंध निर्मित होते ही घर, परिवार, कबीला, गांव, देश, राज्य, साम्राज्य का विकास होता

चला गया। आज जो दुनिया दिखाई दे रही है, वह पति–पत्नी के संबंधों की निर्मिति की वजह से ही है। इन्हीं संबंधों के सुचारू संचालन के लिए पर्सनल कानून अस्तित्व में आते हैं। शेष कानून इसी का हिस्सा होते हैं। फिर, हर चिंतन परंपरा के अपने पर्सनल कानून होते हैं। इधर आजीवक यानी दलित चिंतन परंपरा में जारकर्म पर तलाक की व्यवस्था रही है। इससे भली स्त्री और भले पुरुष को डरना नहीं चाहिए। बताना यह भी है, स्त्री के जीवन से पति के निकलते ही जार की एंट्री हो जाती है। जार नंग और निठल्ला होता है, इसकी उदरपूर्ति कैसे हो? तब जारिणी इसकी और अपनी उदरपूर्ति के लिए पति को बैल की तरह रखना चाहती है और सेक्स के लिए अनगिनत जारों का साथ चाहती है। इतना ही नहीं, तलाक के नाम पर वह अपने और अपने जार का भरण–पोषण चाहती है। मोरल स्त्री की ऐसी कोई मांग नहीं होती। वह जार के कुल्हे पर लात मार कर उस से अलग हट जाती है और खुद कमाती खाती है। यह खुद कमाना मोरलिटी की अनिवार्य शर्त है। इसी से स्त्री की स्वतंत्रता का रास्ता निकालना है।

फिर, पति की चाहना है कि संतान विवाह से 'औरस' पैदा हो, लेकिन जारिणी तो विवाह से बाहर जार से संतान उत्पन्न करके पति से पलवाना चाहती है। इसीलिए वह पितृसत्ता का विरोध करती है। इधर आजीवक चिंतन में बताया जा रहा है, स्त्री तय कर लें कि उसे कितने पुरुषों के साथ सोना है? वह इसके लिए लिखित संहिता के साथ आए। आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर ने तो बता दिया है– 'इस स्त्री चिंतन के बारे में दो बातें हैं। पहली यह कि इस चिंतन ने विवाह संस्था को आज तक स्वीकार नहीं किया है। दूसरी बात यह कि इसने विवाह के विकल्प में अपनी तरफ से विश्व में कानून का मसौदा कभी तैयार नहीं किया। कुछ स्त्रियां मौजूदा पर्सनल कानूनों को गलत बताती हैं कि वह पितृसत्तात्मक हैं पर वह अपना कानून ले कर तो आएं कि वे जीवन और घर–गृहस्थी में कैसे चलेंगी। बिना कानून की उनकी यह अराजकता की स्थिति है, जो दूसरी अधिकतर स्त्रियों के लिए बड़ी घातक है।' तो, पितृसत्ता विरोधी दलित स्त्रियां बताएं कि परिवार कैसे चलेगा? ये पूरी संहिता के साथ आएं, बाकी किसी तरह की किसी की भी बकवास नहीं सुनी जानी।

कुछ लोग पितृसत्ता को पुरुषसत्ता कह कर इसकी आलोचना करते हैं। ऐसे आलोचकों से पूछा जा सकता है, स्त्री का संबंध कितने पुरुषों से होता है? पुरुष के रूप में उसे पति ही मिलता है। कोई पति की आलोचना स्त्री–पुरुष के रूप में पति–पत्नी के संबंधों को परख कर सकता है। इस परखने में दूसरा कोई पुरुष नहीं होता। इस संबंध के बीच किसी दूसरे पुरुष का आना ही विवाद के मूल में है। यह दूसरा पुरुष जार ही होता है, जिसे जारिणी का समर्थन मिला होता है। दलित चिंतन में तो बताया ही जा रहा है, अगर स्त्री को कोई दूसरा पुरुष पसंद है तो वह अपने पति को तलाक देकर दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें किसी भी अपने जार के साथ जैसे चाहे रहे। हां, उसे पति से किसी तरह का भरण–पोषण नहीं

मिलने जा रहा। वह जिस के साथ रहे उसी से भरण–पोषण भी ले। बताया जाए– 'पुरुष स्त्री का दुश्मन नहीं है। सभ्यता के पूरे विकास में वह स्त्री के साथ खड़ा मिलता है। उस समय पुरुष स्त्री का पिता या भाई होता है। कौन पिता अपनी बेटी को उस के ससुराल वालों से बेइज्जत होती देखना चाहेगा? भाई अपनी छोटी या बड़ी बहन को किसी के द्वारा क्यों मरने देगा? पति खुद अपनी पत्नी को दुनिया की सौ अपै–झपों से बचाता है। राह चलता पुरुष भी स्त्री के साथ हो रहे बलात्कार के खिलाफ अपनी जान जोखिम में डाल देता है।... इन सारे पुरुषों की बात बहुत गौर से सुनी जानी है जब यह स्त्री के पक्ष में बोलते हैं। इनके सिवा, और कौन पुरुष हैं जो स्त्री के पक्ष में बोलते हैं? वह जार हो सकते हैं। यही अंतर है कि यदि वे जार पुरुष हैं तो उनकी एक भी बात नहीं सुनी जानी है। जार लगभग चोर है, बल्कि कहना चाहिए कि वह डबल चोर है। चोर किसी के घर में एक बार चोरी करता है, दो बार चोरी करता है, पर जार पुरुष परपत्नी की कोख से अपनी औलाद पैदा करके उसके खाने का जीवन भर का इंतजाम कर देता है। यह भरण–पोषण और उत्तराधिकार के कानूनों में एकमुश्त चोरी है, डकैती है, सेंधमारी है। यह बच्चों का दुश्मन है कि उन्हें चोरी से और अवैध पैदा करता है।'

जाना जाए, जारिणी चाहती क्या है? वह अपने पति से तो संपत्ति चाहती है और सेक्स के लिए उसने ना मालूम कितने जार पाले होते हैं। वह उन जारों के लिए भी अपने पति से भरण–पोषण चाहती है। इसे तलाक के मुकदमों में बखूबी देखा जा सकता है। यानी, भरण–पोषण पति से और सेक्स किसी से। लेकिन, इधर आजीवक चिंतन दलितों को अपनी परंपरा में तलाक का अधिकार देता आ रहा है। इसी से तथाकथित दलित लेखिकाओं की सांसें उखड़ी हुई हैं। इन्हें पता लग गया है कि अब इनका जारकर्म का पक्ष चलने वाला नहीं। तब ये अपनी अंतिम उखड़ती जाती सांस के साथ बुद्ध की शरण में जाना चाह रही हैं। लेकिन, पता लगता है कि बुद्ध ने भी यशोधरा को अपनी शरण में नहीं लिया था। और ना ही यशोधरा ने माना कि वह बुद्ध की शरण में है, बल्कि मरते समय भी 'उसने तथागत से कहा, मैं अपनी शरण आप हूं।' यह भी बताया जाए, यह घटनाक्रम बुद्ध और यशोधरा के अंतिम समय का है, जब व्यक्ति सब कुछ भूल कर सामने वाले को माफ कर देता है। लेकिन यहां तो यशोधरा ने स्पष्ट शब्दों में बुद्ध की शरण में आने से इंकार कर दिया है।

पिता के रूप में पति क्या चाहता है? वह चाहता है कि उस की पत्नी से जो संतान उत्पन्न हो वह उसी की हो, इसी को पितृसत्ता कहते हैं। जब कोई स्त्री अपने पति से संतान पैदा करने की बजाय किसी गैर से संतान पैदा करती है, उसे जारज संतान कहते हैं और यही 'जारसत्ता' है। जो स्त्री अपने पति को छोड़ कर किसी अन्य मर्द से संबंध बनाती है, वह पल भर में अपने पति को अपने जार से मरवा सकती है। पूछा जाए, पति की इस चाहना में गलत क्या है कि

संतान उसके वीर्य से पैदा हो? जब पुरुष संतान अपनी चाहता है तब वह अपनी संतान की रक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगा देता है। पूछा जाए, 'बाप ने अपने बच्चे से क्या छीना है? मां की तरह उस ने भी अपने बच्चे से कुछ नहीं छीना। तब स्त्री बच्चे से उस का बाप क्यों छीन रही है? यह बच्चे का मौलिक अधिकार है कि मां के नाम की तरह वह अपने बाप का नाम भी जाने। बाप अपने बच्चे को, अमीर या गरीब, कुछ देता ही है, उस से कुछ लेता या छीनता नहीं है। यदि मां उसे दूध और दुलार देती है तो बाप भी उस पर अपने अपनत्व का सर्वस्व लुटा देता है। वह बच्चे को अपना इतिहास देता है। मां बच्चे का सिर रोलती है तो बाप अपने बच्चे को सामने बराबर का हमशक्ल पा कर छाती से लगा लेता है। रोग–शैया पर पड़े हुए हुमायूं के चारों और तीन चक्कर, अल्लाह से उस के जीवन के बदले में अपनी मौत मांगते हुए पचास साल से कम उम्र के शहंशाह बाबर ने लगाए थे, हुमायूं की मां माहेम ने नहीं। बाबर ने दुआ में मांगा था– 'अल्लाह, अगर जान का बदला जान हो तो मुझ बाबर की जान ले कर हुमायूं की जान बख्श दे।' पौराणिक भारत में भी राम के वनगमन पर दशरथ ने अपने प्राण त्यागे थे, राम की मां कौशल्या ने नहीं। तो, जैसे बच्चे से उसकी मां नहीं छीनी जानी चाहिए वैसे ही बच्चे से उसका बाप भी नहीं छीना जाना चाहिए।'

ध्यान रहे पितृसत्ता के विरोध का अर्थ पति का विरोध ही होता है, क्योंकि जिस पति से स्त्री को संतान पैदा करनी होती है, उसकी जगह वह मातृसत्ता की सेक्स की अपार स्वतंत्रता के नाम पर जार से संतान पैदा करना चाहती है। इस बात की गवाही 'आपहुदरी' ने लिख कर दी है, जिस के पक्ष में चप्पल हाथ में लेकर नवआधुनिक दलित स्त्रियां पितृसत्ता के विरोध में नारे लगा रही हैं। ऐसी स्त्रियों से दलित स्त्रियों को सतर्क रहना चाहिए। पति के विरोध के नाम पर ये इन्हें जारकर्म में धकेलने में लगी हुई हैं। जार तो वैसे ही पितृसत्ता के विरोध का मर्सिया पढ़ता है। उसे अपनी जारकर्म की पैदाइश दूसरे से जो पालन करवानी होती है। इसलिए पुनः बताया जा रहा है कि पितृसत्ता के विरोध का अर्थ पति का विरोध ही होता है। पति के विरोध का मतलब होता है जार का समर्थन।

आखरी बात जो बतानी है, वह यह कि दुनिया में हर धर्म चिंतन की मातृसत्ता और पितृसत्ता अपनी परंपरा में विकसित होती है। जिसकी अपनी अलग विशेषताएं होती हैं। इस रूप में दलितों अर्थात आजीवकों की पितृसत्ता सबसे अलग है। इसमें ना तो पुत्रिकापुत्र होता और ऐसे ही क्षेत्रज, गुह्यज, सहोदज, पुनर्भव और पारासव पुत्र के होने का तो सवाल ही नहीं उठता। ऐसे ही, ना ही आजीवकों में विवाह के अनेक प्रकार भी नहीं होते। आजीवकों में विवाह एक सामाजिक समझौता होता है, जिसमें 'तलाक' अनुमत है। इससे आजीवकों में केवल और केवल 'औरस' संतान पैदा होती है, जो अपने पिता को ही पिता कहती है। यही पितृसत्ता का असली रूप है, इसी से मनुष्यता आगे बढ़ी है।

■

सांस्कृतिक वर्चस्ववाद

बी.आर.विप्लवी

भारत को ब्रिटिश औपनिवेशिक तंत्र की गुलामी से मुक्ति की घोषणा के बाद इसका सामाजिक–राजनैतिक एवं धार्मिक स्वरूप क्या हो या कैसा हो, इस पर राष्ट्र निर्माता एवं युग–द्रष्टा बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर के स्पष्ट, सुनिश्चित एवं निर्णायक विचार थे। वे सदियों से चली आ रही गैरबराबरी पर आधारित रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तनकारी पक्ष के प्रखर प्रवक्ता और प्रबल पैरोकार थे। वे चाहते थे कि इस देश की करोड़ों जनता को अशिक्षा के अंधकार से प्रकाश की ओर लाकर सामजिक न्याय के ज़रिए शान्ति पूर्ण सह–अस्तित्व एवं सम्मानपूर्ण जीवन बहाल किया जा सके। वे जिस शक्ति–सम्पन्न, सम्प्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य की परिकल्पना करते थे उसकी गूँज उनके व्याख्यानों, अभिभाषणों एवं समग्र लेखन में स्पष्ट रूप से ध्वनित होती है तथा उससे भी आगे उनके द्वारा रचे गये भारतीय संविधान जैसे– महानतम आधार ग्रन्थ में जीवन्त होकर प्रकट होती है। ऐसा आधार ग्रन्थ भारतीय जन–तांत्रिक व्यवस्था को एकता के सूत्र में पिरोये रखकर उसके आदर्शों एवं उन्नति के सपनों को ज़मीन पर उतारने के लिए लगातार सन्नद्ध तथा सक्षम दिखाई देता है। ऐसे संविधान के पृष्ठ–दर–पृष्ठ एवं शब्द–दर–शब्द से डा॰ अम्बेडकर की वैश्विक जनवादी दृष्टि साफ़ नज़र आती है, जो भारत को समेकित एवं समग्र जनशक्ति का सकारात्मक सहयोग प्राप्त कर इसे केवल शक्ति सम्पन्न ही नहीं देखना चाहती वरन शक्ति के बेजा इस्तेमाल को रोकते हुए विश्व–शान्ति की नयी और व्यावहारिक समझ भी देती है।

ऐसे भारत के निर्माण हेतु डा॰ अम्बेडकर की कार्य योजनाओं में मुख्यतः शामिल थे– बुनियादी शिक्षा, रोजगार, कृषि एवं उद्योगों का राष्ट्रीकरण, जनसंख्या नियंत्रण, धार्मिक निरपेक्षता एवं जाति–विहीन समाज–निर्माण, नदी बाँध एवं सुदृढ़ सिंचाई परियोजना, राजनैतिक सुधारों द्वारा ईमानदार–कर्मठ एवं समुचित जनप्रतिनिधित्व, व्यक्ति पूजा से परे वैचारिक आस्था, आडम्बडर एवं धर्मान्धता की जगह विज्ञानवाद, श्रमिक हितों की रक्षा, नारी शिक्षा–समानता एवं कानून की नज़र में प्रत्येक नागरिक को समानता का अधिकार। यहाँ इस प्रकार के

संपर्क – 113/2, सेक्टर–8बी, आवास विकास वृंदावन कॉ लोनी, फेज–2, लखनऊ–226024, मो.–9852241055

परिवर्तनकारी तत्वों का समावेश दिखाई देता है जिसके ज़रिए एक जनवादी एवं सर्वसाधन सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण किया जा सके।

भारतीय इतिहास से यह बात प्रमाणित है कि यहाँ तथा–कथित धार्मिक–आध्यात्मिक अधिनायकत्व ने लम्बे समय तक सामाजिक समता का क्रियान्वयन होने ही नहीं दिया। इसलिए आर्थिक विकास के ज़रिये आर्थिक साम्यवाद का सपना भी यहाँ आकार नहीं ले पाया। लम्बे समय तक कबीलाई–भौगोलिक पृथक्कीकरण ने अपनी–अपनी मजबूत सीमाएँ प्रायः दुर्लंघ्य बना रखी थीं। फलतः एक अन्तर्कबीलाई समाज बनने की प्रक्रिया ही नहीं चली। आक्रमणों के दौरान बाहर से आयी जातियों के साथ यहाँ के कबीलों ने भी अपने आप को प्रायः पृथक ही रखा तथा कुछ जातियों ने इस अलगाव का फायदा अपने पक्ष में उठाते हुए इस पृथक अस्तित्व को ईश्वरीय बनाकर स्थायित्व दे दिया। इन्हीं प्रक्रियाओं के परिणाम स्वरूप छोटे–छोटे राज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व लम्बे समय तक चला जिसने भारतीय भू–भाग को कभी एक राष्ट्रीय संस्कृति नहीं बनने दिया। ब्रिटिश औपनिवेशिक व्यवस्था ने पहले से मौजूद इन स्वतंत्र राज्य–व्यवस्थाओं को ज्यों का त्यों रहने दिया तथा उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी की राज्य–व्यवस्था के अन्तर्गत एक घटक बना लिया। यह व्यवस्था 1757 के बाद ब्रिटिश साम्राज्य व्यवस्था कायम रहने तक ज्यों की त्यों चलने दिया गया। हाँ इतना परिवर्तन ज़रूर आया कि ऐसी सभी राज्य इकाईयों को एक ही ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन होने के कारण बहुत से एक समान नियम–कायदों से शासित होना पड़ा। शायद इसी व्यवस्था या मज़बूरी ने भारत में एक फेडरल राज्य व्यवस्था की नींव रखी। ब्रिटिश साम्राज्य ने यद्यपि कि समान नियम और प्रावधानों को लागू किये जाने के अपने प्रयासों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किये तथा कई प्रावधान केवल कुछ विशेष राज–तंत्रों तक ही सीमित रहे, फिर भी एक शासन–तंत्र के नीचे आने के बाद सभी राज्यों को मिलाकर, एक वृहत्तर भारत की संकल्पना फलीभूत तो हुई ही। इस नज़र से भी भारत को एक राष्ट्र–राज्य बनाने की दिशा में ब्रिटिश हुकूमत का जाने–अनजाने बहुत बड़ा योगदान रहा। इस प्रकार के भारत की परिकल्पना को लेकर (आज़ादी की पहल करते हुए भी) कुछ पुराने राजतंत्रों ने एक बार फिर स्वतंत्र होकर स्वशासित होने की माँग उठायी जिन्हें भारतीय गणराज्य में शामिल करना आसान नहीं था। इन छोटी राज्य–इकाईयों ने ब्रिटिश हुकूमत की अधीनता स्वीकार करते समय तरह–तरह के समझौते किये थे तथा एक बार ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति का अर्थ उन्हें पुनः अपना स्वतंत्र अस्तित्व अलग रहने में दिखाई देने लगा था। इस समस्या से निबटने हेतु डा॰ अम्बेडकर ने ऐतिहासिक क़दम उठाया तथा अच्छे तथा अनुकूल क़ानून के आश्वासन के ज़रिये इन राज्य–व्यवस्थाओं को गणतांत्रिक व्यवस्था में शामिल होने पर राजी कराया। इस प्रकार डा॰ अम्बेडकर ने खंड–खंड बिखरी व्यवस्था (अव्यवस्था?) को एकीकृत करके अखण्ड भारत बनाने का स्वप्न साकार किया तथा इन

राजतंत्रों को एक लोकतंत्रीय प्रणाली में विलीन करने की कानूनीं अड़चनों का समाधान किया।

डा॰ अम्बेडकर के अनुसार राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद अलग–अलग बातें होती हैं– 'राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद के बीच विभेद है, ये मानव मनकी अलग–अलग मनोवैज्ञानिक दशाएँ हैं। राष्ट्रीयता का अर्थ है करुणा के प्रति जागरूकता तथा आत्मीयता के जुड़ाव की मौजूदगी की जानकारी। राष्ट्रवाद का अर्थ है– उन लोगों द्वारा जो आत्मीयता से जुड़े हैं अलहदा राष्ट्र की उपस्थिति की इच्छा। दूसरा यह सत्य है कि बिना राष्ट्रीयता के एहसास की स्थिति के राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। लेकिन दिमाग में यह रहना चाहिए कि इसके उलट बात हमेशा सत्य नहीं होती। राष्ट्रीयता का एहसास मौजूद रह सकता है फिर भी राष्ट्रवाद का एहसास बिल्कुल अनुपस्थित रह सकता है। इसका मतलब यह कि कि सभी मामले में राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद की लहर बने इसके लिए दो शर्ते पूरी होनी चाहिए– प्रथम यह कि राष्ट्र के रूप में रहने की इच्छा। राष्ट्रवाद उस इच्छा की गत्यात्मक प्रस्तुति है। दूसरा ऐसा परिक्षेत्र होना चाहिए जिसे राष्ट्रवाद अपना सके, इसे राज्य बना सके तथा इसे राष्ट्र का सांस्कृतिक गृह बना सके। बिना इस परिक्षेत्र के राष्ट्रवाद, लाई एक्सन के मुहावरे में; ऐसी आत्मा होगा जो शरीर की खोज में भटक रहा हो जिसमें जीवन की शुरुआत कर सके और बिना उसे पाये मर जाता है।

अतः राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता की भावना भारत के लिए ज़रूरी तत्व हैं। इसीलिए धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अलगाव के कारण भारतीय राष्ट्रवाद पर इसके भीतर ही अलग–अलग तरह के राष्ट्रवाद पैदा होने के ख़तरे रहेंगे। इसीलिए डा॰ अम्बेडकर कहते हैं कि 'राष्ट्र मौजूद नहीं होता इसका सृजन करना होता है, और मेरे विचार से यह स्वीकार्य होगा कि विशिष्ट एवं अलग समुदाय को बलपूर्वक दबाना किसी राष्ट्र के सृजन का तरीक़ा नहीं हो सकता है।' आशय यह कि राष्ट्र के सृजन में समुदायों को साथ लेकर चलने के लिए ऐसा वातावरण पैदा होना चाहिए ताकि उनकी स्वतः ही दिलचस्पी बढ़े और ऐसा मात्र सह–असित्व और आत्मीयता की भावना से ही संभव है। विचारणीय यह है कि डा॰ अम्बेडकर उपरोक्त कथन में किस प्रकार के राष्ट्र की परिकल्पना करते हैं। निश्चित रूप से वे भारत को धर्म, सम्प्रदाय एवं जाति विहीन बनाकर मानवीय प्रेम, मानवीय सम्मान एवं सह अस्तित्व की भावना को ही एक राष्ट्र की ज़रूरी शर्त मानते हैं क्योंकि सम्प्रदाय, जाति, धर्म ऐसी मानसिक स्थितियाँ हैं जो अपने से इतर के साथ सह अस्तित्व में बड़ी रुकावट पैदा करती हैं। इसीलिए भारतीय संविधान में धार्मिक आडम्बर एवं परम्परागत अंध–भक्ति के प्रभाव को ख़त्म कर विज्ञानवादी चेतना के विकास की बात की गई है और इसी रास्ते से हम धर्म–जाति और समप्रदाय की भावना से ऊपर उठकर एक राष्ट्र के रूप में अखण्ड भारत का निर्माण कर सकते हैं।

डा॰ अम्बेडकर के विचारों के बरअक्स आज के तथाकथित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (आतंकवाद?) के रूप, उसके तेवर, उसके चरित्र एवं उसके उद्देश्य की

पड़ताल से स्पष्ट हो जाता है कि आज भारतीय लोकतंत्र किस मोड़ पर खड़ा है और उसके भविष्य का क़दम किस ओर अग्रसर है। सबसे पहले हमें भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह पड़ताल कर लेना होगा कि यहाँ पर सांस्कृतिक शब्द के क्या मायने हैं– सांस्कृतिक पृथकता, सांस्कृतिक समन्वय, सांस्कृतिक संक्रमण एवं सांस्कृतिक विलयन या एकीकरण के क्या निहितार्थ हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में हम सांस्कृतिक आतंकवाद की शिनाख़्त करने की कोशिश करेंगे।

सभ्यता का स्वरूप भौतिक क्रमिक विकास से है जबकि संस्कृति का स्वरूप मानसिक क्रमिक विकास से है। संस्कृति और सभ्यता का अन्योन्याश्रित संबंध है अर्थात एक दूसरे पर निर्भरता और साथ ही साथ एक दूसरे के विकास में सहयोगी भूमिका। सभ्यता–मनुष्य–जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के क्रम में, उसे अधिक सुविधा सम्पन्न बनाने की दिशा में नित नये आयाम रचती रही है जिसने मनुष्य को अन्य जीव–जन्तुओं की तुलना में अधिक शक्ति–सम्पन्न बनाया है। इस दिशा में मनुष्य की बुद्वि ने उसके श्रम का साथ दिया। इसी कारण मनुष्य ने एक नियम–बद्ध तरीक़े से प्रकृति के साथ सामजंस्य बिठाकर अपने पक्ष में प्रकृति से बहुत कुछ प्राप्त करने का गुर सीखा। इसी सीख से उसने अपने अनुभव की बातों को अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जिससे आगे की पीढ़ियाँ उससे भी आगे का बौद्धिक सफ़र तय कर सकें। ऐसे हीं बौद्धिक संचरणों के भिन्न स्वरूपों एवं माध्यमों का विकास हुआ ताकि इसका संसरण एवं फैलाव अधिक लोगों तक हो और एक सामूहिक स्वीकार्यता में हो। इन्हीं आयामों ने एक साझा रहन–सहन, वेश–भूषा, मनोरंजन एवं ज्ञान–विज्ञान का विकास किया जो भौगोलिक समस्याओं के कारण विशेष क्षेत्रों तक सीमित रहीं। इसी कारण भौगोलिक सीमाओं के बाहर के ज्ञान–विज्ञान, रीति–रीवाज, तीज–त्यौहार व्रत–पूजा और मान्यताएँ भिन्न–भिन्न रही जिन्हें हम संस्कृति का नाम देते हैं।

यह भिन्नता ही विशिष्ट सांस्कृतिक समूहों या समाजों की पहचान के रूप में एक बौद्विक कौशल–पूर्ण परम्परा के रूप में सामयिक परिवर्तनों के साथ प्रधानतया अपने मूल स्वरूप में, हस्तान्तरित होती रही। इसकी विशिष्टता लंबे समय तक इसकी भौतिक सीमा में मजूद रहने के कारण भी है। सांस्कृतिक विकास की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने इसे अलग तथा विशिष्ठ बना रखा है। सभ्यता विकास के क्रम में भौगोलिक सीमाओं की अलंघ्ययता कम हुई जिससे संस्कृतियों के मिलन एवं आपसी आदान–प्रदान द्वारा परिवर्तन–परिवर्धन भी हुआ। कई बार अनुकूल परिस्थितियों में एक साझी संस्कृति ने भी आकार ग्रहण किया। लम्बे समय तक अपनी विशिष्ट अस्मिता बनाये रखने वाली संस्कृतियाँ आज भी एक दूसरे से पृथक हैं। यह पृथकता प्रायः विरोधी नहीं है।

यह लम्बे समय से पीढ़ी–दर–पीढ़ी विकसित जीवन–पद्धति अपनी अलग पहचान रखती है किन्तु सभी ऐसा ही करें यह आग्रह या अपेक्षा नहीं रखती। अपनी परम्परा से बँधे रहकर उसके प्रति मोह तथा आस्था होना एक बात है किन्तु दूसरी

भिन्न संस्कृतियाँ भी इसी का अनुसरण करें, इसका दुराग्रह बिल्कुल अलग बात है। ऐसे दुराग्रह भारतीय संस्कृति में प्रायः नहीं रहे हैं यही यहाँ की साझा संस्कृति की विशेषता है। जब हम भारतीयता की बात करते हैं तो हमें भारतीयता की ऐतिहासिक परम्पराओं में इसके स्रोत तलाशना लाजमी हो जाता है।

अब तक ज्ञात पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर हम यह मानते हैं कि भारतीयता का मूल उत्स हड़प्पाई है। प्रकृति के साथ सामन्जस्य, उसकी असीम सत्ता–शक्ति की स्वीकार्यता–फलतः उसकी श्रेष्ठता एवं विनाशक शक्ति के आगे नतमस्तक होकर उसकी पूजा आराधना। किन्तु इसका अर्थ यह क़तई नहीं कि इस पूजा आराधना के कारण मनुष्य ने प्रकृति पर नियंत्रण और उससे अपेक्षित फल प्राप्त करने की कोशिश छोड़ दी हो। ऐसा नहीं। मनुष्य अपने इन्हीं प्रकृति प्रदत्त अनुभवों को अपनी पारम्परिकता के साथ जोड़कर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संस्कारित उपादान से लैस करता रहा। संस्कार या पाली का 'संखारा' का अर्थ ही पीढ़ी–दर पीढ़ी जाने–अनजाने हस्तांतरित होने वाले जीवन अनुभवों, गुणों, ज्ञान, संयम और परिस्थितियों से प्रतिक्रिया करने की आदतें। और इसीलिए ये संस्कार व्यक्तियों, परिवारों, कुनबों, कबीलों, समाजों में रूपान्तरित होकर एक साझा संस्कृति का निर्माण करता है– ऐसी संस्कृति जिसके कुछ न्यूनतम अवयव जो सभी कुनबों, कबीलों में सामान्यतः मान्य हों।

भौगोलिक पृथकता तथा भौगोलिक जलवायविक अन्तर के कारण भिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग संस्कृतियों का विकास हुआ लेकिन हड़प्पाई परिप्रेक्ष्य में सब का मूल स्रोत वही प्रकृति के साथ सहजीविता थी। इस प्रकार पूरे एशियाई क्षेत्र के दक्षिण–पश्चिम एवं दक्षिण–पूर्व परिक्षेत्र में एक सहजीवी संस्कृति का विकास हुआ जहाँ मनुष्यता सबसे अहम जीवन मूल्य रही और बाकी चींज़े उसी के इर्द–गिर्द घूमती रहीं। इसी जीवनानुभव और मूल्य को मनुष्य ने सभ्यता का नाम दिया जहाँ अपने जीने के अधिकार के साथ सहजीवी मनुष्य को भी जीने देने का कर्तव्य बोध विकसित हुआ। कुछ इसी प्रकार की संस्कृति द्वारा हड़प्पाई समाज ने सहजीविता और सहकारिता के ज़रिए बड़े–बड़े सार्वजनिक कार्यों को अंजाम दिया।

कालान्तर में मनुष्य की वर्चस्ववादिता ने अन्तर्समाजीय समूहों का निर्माण कर उन पर अपना आधिपत्य जमाना भ्शुरू किया। इसी क्रम में अर्न्तसांस्कृतिक समूहों के एक साथ आने तथा भौगोलिक सीमाएँ टूटने के कारण आपसी आदान–प्रदान द्वारा कई नई संस्कृतियों का सम्मिलित विकास होता रहा या कई संस्कृतियों का संलयन–विलयन होता रहा।

पुराने भारतीय गाँव अपने आप में स्वतंत्र सांस्कृतिक केन्द्र रहे लेकिन उनकी अलग बस्तियाँ अपने अलग अस्तित्व को जिन्दा रखे थीं। ऐतिहासिक कारणों से बाद के दिनों में अलग–अलग सांस्कृतिक समूहों द्वारा एक ही गाँव में बसाहट के कारण ही ऐसा हुआ। मूल (पुरानी) ग्रामीण सांस्कृतिक ईकाई बनी रही और उसके इर्द–गिर्द बाद के विस्तारित क्षेत्र में अलग संस्कृतियों ने अपना डेरा जमाया। बाद में आने वाले

ये सांस्कृतिक समूह देसी–विदेशी आक्रमणों, प्रव्रजन तथा अन्य कई ऐतिहासिक कारणों से पहले से बसे गाँवों में आबाद हुए किन्तु फिर भी मोटे तौर पर सहजीविता की सहिष्णुता प्रायः बनी रही। यह हड़प्पाई सांस्कृतिक सहजीविता वैदिक काल (१५०० ई॰ पूर्व) के बाद भी निर्बाध चलती रही।

इस प्रकार हड़प्पाई संस्कृति कमोवेश एक विज्ञान–सम्मत सांस्कृतिक चेतना को अंगीकार करने की दिशा में आगे बढ़ती रही तथा सहजीवी सहिष्णुता को अपने आचार संहिता में स्थान दिया। अहिंसा, चोरी न करना (अपरिग्रह), झूठ न बोलना आदि जीवन जीने के अभिन्न नियम बन गये जो कई भिन्न सांस्कृतिक ईकाइयों के लिए एक साझा मान्य नियम की तरह अंगीकृत हुए। इस प्रकार की आचार संहिता तथा ऐसी ही अन्य संहिताओं के प्रभाव में छोटे–छोटे सांस्कृतिक समूह एक बड़े छत्र के नीचे आने लगे जहाँ वे अपने सांस्कृतिक स्वरूप को बचाये रखकर इस वृहद जीवन–मार्ग का अनुसरण करते रहे। इस प्रकार के समूह अपनी सांस्कृतिक भिन्नता के ऊपर एक सामूहिक भावना में बँधकर साझा नाम और साझी पहचान ग्रहण करने लगे।

तथाकथित वैदिक कालीन साहित्य इस प्रकार की ग़ैर–हड़प्पाई सांस्कृतिक समूहों के भारत भूमि पर कहीं से आकर निवास करने की निशानदेही करता है। यह समूह दूसरों की सम्पत्ति छीनने हड़पने या युद्ध द्वारा जीतकर लेने में विश्वास करता है, जो भारतीय अपरिग्रह के उल्टी मान्यता है। यह समूह झूठ बोलकर, धोखा देकर, जालसाजी करके, षड्यंत्र करके, विश्वासघात करके दूसरों की सम्पत्ति हथियाने में विश्वास रखता है। यह समूह दूसरों की हत्या करके, उसकी सम्पत्ति हथियाने में विश्वास करता है। यह संस्कृति समूह मूलतः कोई आध्यात्मिकता या ध्यान पूजा में विश्वास नहीं रखता तथा भौतिकता में प्रायः विश्वास करता है। भौतिक उपलब्धि कराने हेतु इन्द्र की पूजा भी भौतिक रूप से ही अर्थात् सोम, मांस और सुन्दरियों का उपहार देकर। यहाँ आध्यात्म को महत्व नहीं दिया जाता तथा वैदिक काल के शुरूआती दिनों में तो अध्यात्म को 'नग्न श्रमणों का व्यसन' ही माना है, इस संस्कृति ने। और उत्तर वैदिक काल आते आते यह ग़ैर हड़प्पाई संस्कृति 'ब्राह्मण संस्कृति' के नाम से विहित होती है। चूँकि ऋग्वैदिक मूल आख्यानों में इसी गैर–हड़प्पाई संस्कृति का दर्शन होता है अतः यह 'वैदिक संस्कृति' भी कही गयी है, हालाँकि ऋग्वेद के रचनाकार इस संस्कृति के पोषक थे। इस प्रकार यह 'ब्राह्मण संस्कृति' आगे चलकर वर्चस्ववादी संस्कृति के रूप में पनपी तथा राज्याश्रित होकर अपनी रीति–नीति को 'अब्राह्मण संस्कृति' (हड़प्पाई या मूल भारतीय संस्कृति) पर थोपने लगी। यह राजनैतिक अधिपत्य से इतर, अलग किस्म का आक्रमण था। इसी कारण दोनों संस्कृतियों में टकराव होता रहा। यही कारण है कि लम्बे समय तक टकराव के बाद भी आज तक इन दोनों संस्कृतियों की अलग–अलग पहचान तथा आस्मिता बची हुई है।

शासन–सत्ता में ब्राह्मण प्रभाव बढ़ने का क्रम शुरू ही हुआ था कि मुगल शासकों ने यहाँ कब्जा जमा लिया तथा एक बार फिर इस्लाम संस्कृति ने यहाँ की दो–फाँक संस्कृतियों को ज्यों का त्यों रहने दिया। ब्राह्मण संस्कृति ने सत्ता का

दामन पकड़ा तथा रियाया के स्तर पर, अपनी प्रतिसंस्कृति के बल पर; हड़प्पाई संस्कृति के दमन का कार्यक्रम चलाता रहा। मुगल सत्ता ने भी अपनी राजसत्ता बरकरार रखने के लिए यहाँ की सामाजिक एवं सांस्कृतिक हलचल में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। वैसे भी यह इस्लामी संस्कृति का वाहक था जो हड़प्पाई या भ्रमण संस्कृति की प्रवृत्ति से थोड़ी अलग थी। इस्लामी संस्कृति में चोरी करने तथा झूठ की मनाही तो है जो श्रमण संस्कृति से मेल खाती है। किन्तु यहाँ हिंसा को कई मामलों में जायज़ ठहराया गया है जो ब्राह्मण संस्कृति से क़रीबी का मामला है। हिंसा में विश्वासी दो संस्कृतियों ने राजनैतिक और सामाजिक गठजोड़कर अपने द्वारा अपनी भूमिका बाँट ली। यहाँ के हड़प्पाई जनों पर दोहरा संकट था। श्रमण धम्म के बरअक्स ब्राहमण धर्म अपनी पैठ अब्राह्मणों में बनाने में लग गया था। राजवंशों पर पहले ही डोरा डाल दिया गया था और तदन्दर वणिक समुदाय को क़ब्ज़े में लेता गया। बची हुई जनता के लिए इस्लामी संस्कृति और ब्राह्मण–संस्कृति कुआँ और खाई जैसी थी। ब्राह्मण को इस्लाम से शिकायत थी तो इतनी ही कि वहाँ सबको बराबर समझते हैं। किन्तु इस्लाम के बदले रूप ने वहाँ भी जाति का संपोषण किया तो ब्राहमण संतुष्ट हो गया। और दोनों ओर के मुल्ला पुरोहितों ने हड़प्पाई जन की नाकेबन्दी कर दी। कुछ लोग इस्लाम भी कुबूल कर लिए किन्तु बात वहीं की वहीं रही। इस्लाम में मूर्ति पूजा का विरोध हुआ–यह भी ब्राहमण के लिए असुविधा का कारण था। ब्राह्मण ने देखा कि हड़प्पाइयों का इस्लामीकरण भी ब्राहमण के लिए ख़तरनाक ही है। इसीलिए तत्काल ही ब्राहमण जाति के नाम वाले 'ब्राह्मण धर्म' को सीमित दायरे से बाहर निकालने के लिए 'हिन्दू धर्म' का जामा पहचाना गया तथा बताया गया कि इस्लाम के अलावा यहाँ के सभी लोग हिन्दू धर्मानुयायी हैं।

चूँकि फारसी लोग भारतवासियों को हिन्दू ही कहते थे इसलिए इस्लाम के शासकों तथा रहनुमाओं को यह बात जँची कि इस्लाम के अलावा यहाँ के लोग हिन्दू हैं। ब्राह्मण ने 'हिन्दू' शब्द की उस व्याख्या को धार्मिक जामा पहनाकर अपनी अल्पसंख्या को बहुसंख्या में बदलने की विसात बिछा दी। इस प्रकार उसने 'ब्राह्मण संस्कृति' और 'भारतीय संस्कृति' को हिन्दू धर्म नामकरण के नीचे ज़बरन और एक तरफ़ा लाकर इसे ही हिन्दू संस्कृति का छद्म नाम दे दिया। इस छद्म संस्कृति के बहाने एक तीर में दो निशाने थे– एक इस्लाम के विरुद्ध बहुसंख्यक का गणित जुटाना दूसरा अब्राह्मण संस्कृति के विरोध को दबाकर उसकी अगुवाई अपने हाथ में करना। इस काम के लिए इस्लामोफोबिया का प्रचार होने लगा। इस प्रकार हिन्दू संस्कृति ने अपनी ज़मीन तैयार की है और आज भी यह सांस्कृतिक लड़ाई धार्मिक लड़ाई के छद्मवेश में है।

आज की सबसे बड़ी चुनौती है कि हिन्दू राष्ट्र निर्माण का नारा। और दुर्योगवश यह केवल किसी धार्मिक समूह द्वारा नहीं बल्कि प्रकारान्तर से सरकार के एजेन्डे में शामिल है क्योंकि यह आर॰एस॰एस॰ संस्था के एजेन्डे में शामिल है।

आर.एस.एस. जैसी संस्थाएँ धार्मिक राष्ट्रवाद (हिन्दू) की हिमायती हैं तो आज का सत्तारूढ़ दल उनकी ही राजनैतिक शाखा जैसा लगता है। इसी कारण सरकार को भी धार्मिक राष्ट्रवाद कायम करने की दिशा में तत्पर देखा जा सकता है। ऐसा धार्मिक राष्ट्रवाद भारत के कई टुकड़े कर देगा। स्पष्टतः हिन्दू राष्ट्र बनाने के लिए वर्तमान भारतीय भूगोल को हिन्दू सम्प्रदाय के लोगों के अधिकार में होना चाहिए अर्थात् दूसरी मान्यता के लोग या तो मार दिए जायँ या वे लोग यह देश छोड़ दें। यह दोनों ही स्थितियाँ भयावह तथा मुश्किल हैं। हिन्दू राष्ट्रवाद की वकालत करने वाले शायद यह कहेंगे कि 'यहाँ हिन्दू राष्ट्र व हिन्दू कानून लागू होगा जिसे रहना हो रहे या देश छोड़ दे।' यह ज़बरन हिन्दू या ब्राह्मण मान्यता को कुबूल कराने वाली बात है। इस संदर्भ में डा. अम्बेडकर कहते हैं कि 'विशिष्ट एवं अलग समुदाय को बलपूर्वक दबाना किसी राष्ट्र के सृजन का तरीक़ा नहीं हो सकता' ऐसे में हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि डा. अम्बेडकर के सपनों का भारत ऐसा तो नहीं ही है जैसा हिन्दू राष्ट्रवाद के वर्तमान पहरेदार बनाना चाहते हैं।

इसलिए डा. अम्बेडकर धर्मनिरपेक्षता के बारे में कहते हैं कि 'यह कहना बहुत अच्छा लगता है कि हमने संविधान में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य प्रस्तावित किया है। मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं कि जब कोई सदस्य धर्मनिरपेक्ष राज्य कहता है तो क्या उसका मततलब वही है जो कि संविधान कहना चाहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम धर्म मिटा सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि लोगों की धार्मिक भावनाओं का विचार नहीं करेंगे। एक धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ है कि संसद किसी विशेष धर्म को बाकी किसी समुदाय पर थोप नहीं सकेगी। यही सीमा है जिसे संविधान संज्ञान में लेता है।'

बाबा साहब के उपर्युक्त स्पष्टीकरण एवं हिन्दू राष्ट्रवाद की धारणाओं को देखें तो पता चलता है कि संविधान के दायरे में भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाना कठिन है। इसीलिए कुछ लोग संविधान पर ख़तरे की आशंका से भी इंकार नहीं कर रहे हैं। अतः बाबा साहब के सपनों के भारत में सेकुलर राज्य का नामोनिशान मिटाने की तैयारी को क्या कहा जायेगा। यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर धार्मिक वर्चस्ववाद या आतंकवाद नहीं तो और क्या है?

डा. अम्बेडकर के सपनों का भारत रक्तरंजित क्रान्ति के ज़रिए नहीं बनता बल्कि वह भगवान बुद्ध के बताए मार्ग से बनता है। डा. अम्बेडकर मार्क्स की कई बातों से असहमत होकर शान्ति मार्ग अपनाने की सलाह देते हैं। इसलिए भारत में किसी भी वाद की अपेक्षा अम्बेडकरवाद अधिक प्रसांगिक अधिक व्यवहारिक और परिवर्तनकारी प्रतीत होता है। डा. अम्बेडकर कहते हैं– 'मेरा दृढ़ विश्वास है कि संवैधानिक तरीके से ही सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। इसका मतलब हुआ कि हमें खूनी क्रान्ति का रास्ता छोड़ना होगा। इसका मतलब यह है कि हमें सविनय अवज्ञा, असहयोग आंदोलन और सत्याग्रह का रास्ता छोड़ना पड़ेगा। संवैधानिक विकल्प के अभाव में असंवैधानिक तौर–तरीकों

को सही ठहराया जा सकता है। जब संवैधानिक विकल्प उपलब्ध है तो असंवैधानिक तौर–तरीका अराजकता के व्याकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जितनी जल्दी उसका त्याग कर दिया जाय उतना ही बेहतर है।'

इस प्रकार डा॰ अम्बेडकर के सपनों का भारत वह होगा जहाँ सामाजिक लोकतंत्र को जल्दी बहाल कर दिया जाय अर्थात् जहाँ व्यक्ति को व्यक्ति के तौर पर पहचान कर अधिकार और सम्मान मिले न कि जाति या धर्म के आधार पर। इसके बिना राजनैतिक लोकतंत्र के साथ अर्न्तविरोध रहेगा तथा यह संविधान लम्बे समय तक टिके नहीं रह सकता। इसीलिए भारत को एक जातिविहीन धर्मनिरपेक्ष देश बनाना ही बाबा साहब के सपनों का भारत बनाना है।

डा॰ अम्बेडकर एक सच्चे भारतीय के रूप में भारत राष्ट्र के निर्माण की हर बाधा विपदा को मिटाना चाहते थे। वे चाहते थे कि सभी जातियों को बराबर का हक मिले तथा उनका स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की त्रयी में बिना भेद–भाव के अनुकूलन हो। किन्तु डा॰ अम्बेडकर का ऐसा संवैधानिक सपना भी हिन्दू कोड बिल के रूप में भारी विरोध का सामना करता रहा और अन्ततः क्षुब्ध होकर उन्होंने मंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया था। डा॰ अम्बेडकर की मान्यता थी कि जिस देश में स्त्री आजाद और शक्ति सम्पन्न होकर विकास की धुरी में बराबर के पहिए की तरह भूमिका निभाने से रोकी जायगी वहाँ की प्रगति अधूरी रहेगी। मनु का क़ानून हिन्दू राष्ट्रवाद की आदर्श संहिता है। अतः स्पष्ट है कि इसमें जिस प्रकार नारी को भी शूद्र की तरह ही समान नागरिक अधिकारों से महरूम किया गया है वह डा॰ अम्बेडकर के कल्पित भारत की तस्वीर से एकदम विपरीत है। इसलिए हिन्दू राष्ट्रवाद का आतंक समूची नारी जाति के लिए भी है। उन्हें शोषण की पुरानी परम्परा में नारकीय प्राणी बन जाने का ख़तरा है। इसी प्रकार के ख़तरे श्रमिक समाज को हैं। हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की मूल विचारधारा में ही समानता का नकार है। इसलिए यहाँ व्यक्ति पूजा भी सर्वमान्य है। व्यक्ति पूजा के ज़रिए ही तानाशाही का रास्ता है जो आम–जन के नागरिक अधिकारों की अवहेलना करता हुआ उनके साथ बर्बर पशुता का व्यवहार करता है। इसीलिए डा॰ अम्बेडकर व्यक्ति पूजा को लोकतंत्र के लिए ख़तरा मानते हैं और यही ख़तरा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का भी है। इसलिए यह ऐसा डर या आतंक है जो लोकतंत्र में विश्वास रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आतंक का पर्याय है।

आज डा॰ अम्बेडकर की जयकार और महिमा मंडन के पीछे उनके सपनों को साकार करनेवाले संविधान की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं। लोकतंत्रीय प्रणाली की आधारभूत चुनाव प्रक्रिया तक में पादर्शिता न होने की शिकायतें मिल रही हैं किन्तु चुनाव आयोग जैसी स्वतंत्र संस्था भी इस मामले में जनता को कोई ठोस आश्वासन नहीं दे पा रही है। लोकतंत्र को बचाये रखने के जो प्रमुख स्तंभ हैं उन सब में पलीता लगाया जा रहा है। इस प्रकार से लोकतंत्र की संसदीय प्रणाली कब दम तोड़ दे कहा नहीं जा सकता।

■

शिक्षा

स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा–दृष्टिकोण

किरीट देवनाथ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस संसार के किसी भी देश का व्यक्ति चाहे वह भारत का रहने वाला हो, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, कनाडा, बांग्लादेश, जापान, नेपाल, मॉरिशस का हो या चाहे किसी भी अन्य देश का हो वह अपने देश में निर्मित समाज में रहता है। उससे अछूता कभी नहीं रह सकता। उसे समाज की रीति–नीतियों को मानकर चलना पड़ता है। विश्व के किसी भी समाज को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए शिक्षा की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कदाचित यहीं कारण है कि शिक्षा को किसी भी जाति और उससे सम्बंधित समाज का मेरुदंड कहा जाता है। शिक्षा के बिना मानव कभी भी प्रतिशील नहीं हो सकता। शिक्षा शब्द को अंग्रेजी भाषा में education कहते हैं जिसका अर्थ होता अनुशासित रूप से वैश्विक स्तर पर मस्तिजष्क को विकसित करना। अंग्रेजी में शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है। education is the process of facilitating learingng or the acquistition of knowledge, skills, values, beliefs and habits. Educational methods include teaching, trainig, storytellingand discussion as well as direct research. अर्थात् बात जब शिक्षा की आती है तो यह कहना अनुचित न होगा कि इसमें सभी तत्वों को समेटा जाता है जैसे आलोचना, प्रशिक्षण आदि समस्त तत्वों को समेटा जाता है। शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है जैसे आलोचना, प्रशिक्षण आदि समस्त तत्वों को समेटा जाता है। शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है जो मनुष्य के ज्ञान को बढ़ाती है। संकुचित अर्थ में अगर देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का अभिप्राय किसी भी बालक या बालिका को एक योजनाबद्ध तरीके से विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा से है। इस प्रकार की शिक्षा एक निश्चित समय और एक निश्चत विधि के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है। ठीक इसी प्रकार अगर व्यापक अर्थ में देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो इस संसार के किसी भी मनुष्य को अज्ञान रूपी अंधकार से उस स्थान की ओर ले जाता है जहाँ ज्ञान का प्रकाश विद्यमान है। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है आजीवन चलती रहती है और व्यक्ति जब तक इस

संपर्क –

संसार में जीवित रहता है तब तक उसके जीवन में सीखने की यह प्रक्रिया विद्यमान रहती है।

मैं यहाँ मुख्य रूप स्वामी विवेकानंद की शिक्षा सम्बंधित जो विचारधारा थी उसके विषय में बात करने जा रहा हूँ। स्वामीजी देश की जनता को सुचारु रूप शिक्षित करने के पक्षपाती थे। बहुत पहले हमारे देश में जब अंग्रेजों का शासन था तब लार्ड मेकाले ने 1835 में एक शिक्षा नीति को लागू किया था जिसे 'मेकाले की शिक्षा नीति' के नाम से जाना जाता है। यह शिक्षा केवल अंग्रेजों के हितों का ही ध्यान रखा करती थी। इस शिक्षा के तीन सिद्धांत थे उनमें दो महत्वपूर्ण सिद्धांत इस प्रकार हैं पहला कार्यालयों के लिए लिपिकों का निर्माण करना और दूसरा यह था कि भारतीय लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना जो कि अंग्रेजों के प्रति सम्पूर्ण रूप से वफादार हो। जो दिखने में या वेशभूषा में तो भले ही भारतीय हों परंतु अपने निजी मस्तिष्क के चिंतन में पूर्ण रूप से अंग्रेज हो। यहाँ विशेष रूप से बात यह थी कि सात सौ वर्षों से भारत में हिंदुओं और मुसलमानों में जो एकता विद्यमान थी तत्कालीन अंग्रेजी सरकार या कहा जाए कि इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी उस एकता को तोड़ना चाहती थी ताकि वह सम्पूर्ण भारत में अपना शासन कायम कर सके। उस समय के अंग्रेजी हुकूमत ने हमारे देश के लोगों को यह समझना शुरू कर दिया कि भारत के पास जो भी चीजें मौजूद हैं उसमें कुछ भी उसका अपना नहीं है। रामकृष्ण मिशन के प्रख्यात विद्वान स्वामी गंभीरानंद इस विषय में लिखते हैं कि 'पाश्चात्य मनीषियों ने प्रमाणित किया कि अतीत में जो भी चिंताएँ भारत में व्यक्त हुई थी अथवा औद्योगिक विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति हुई थी वह अन्य सभ्यता की अनुकूलता के कारण ही सम्भव हो पाई थी। मौलिकता भारत की नहीं बल्कि ग्रीस और अरब की है'।[1]

आलोच्य गद्यांश में वर्णित बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन अंग्रेजी प्रशासन भानरत के प्रति बहुत ही हीन मानसिकता रखती थी।

अंग्रेजों के भारत की शिक्षा–दीक्षा के विषय में जो विचार थे उसके विषय में गंभीरानंद लिखते हैं कि 'भारत का वेदांत स्वप्नाभिलाषियों की कल्पना मात्र है। भातर के वेद किसान के संगीत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। भारत का धर्म एक निम्न स्तरीय सभ्यता से उधृत और परिपुष्ट है। उन्नतिशील सभ्यता के बीच उसका आसन अटल नहीं रहेगा। विद्यालय से और अन्य प्रचारों के माध्यम से भारतवर्ष में इस प्रकार की शिक्षा का जो विस्तार हुआ था स्वामी विवेकानंद नेउसे नेतिमूलक शिक्षा कहा था'।[2]

आगे स्वामयी विवेकानंद की शिक्षा विषयक विचारों पर बात करते हुए वे लिखते हैं कि 'इस शिक्षा के अवलंबन से किसी स्वाधीन जाति का गइन नहीं हो सकता, आत्मस्थ होते हुए दृढ़ पग से उन्नति के मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता'।[3]

आलोच्य दोनों गद्यांशों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि शिक्षा को प्रगतिशीनलता का मानक माना जाता है। शिक्षा का प्रसार समाज कमे लोगों को आत्म–निर्भर बनाने के लिए किया जाता है। शिक्षा में स्वार्थ का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। परंतु इंगिलश ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में ऐसा कुछ नहीं नहीं था। शिक्षा सम्पूर्ण रूप से अंग्रेजों के निजी स्वार्थ का पयार्य बन गई थी। अंग्रेजी सरकार भारत की प्राचीन संस्कृति के महत्व को अपनी बृद्धि बल के माध्यम से देश के सामान्य लोगों के सामने विनष्ट करती चली जा रही है। किसी भी देश की प्राचीन सद शिक्षा के माध्यम से उस देश की जनता को बल मिलता है। उसे विनष्ट करना और वहाँ के लोगों को अपनी संस्कृति भूलाकार उनके समाज को विदेशी संस्कृति में सम्पूर्ण रूप से रंग देना सबसे बड़ा अपराध है। वहीं कार्य अंग्रेजी प्रशासन हमारे देश में तत्कालीन समय में करती चली जा रही थी। अंग्रेज भारत और सनातन धर्म की महानता को समझ नहीं पाए थे। अंग्रेजों ने अपनी अज्ञानता के कारण वेदों को काल्पनिक कहा लेकिन यह काल्पनिक नहीं है। स्वामी विवेकानंद का कहना था कि जो शिक्षा प्राचीन शिक्षा को प्राचीन संस्कृति को विनष्ट करती है वह शिक्षा नहीं है। इसे शिक्षा के नाम पर अशिक्षा कहना चाहिए।

इस आलेख में मुख्य रूप से स्वामी विवेकानंद के शिक्षा दर्शन पर हो रही है। स्वामीजी के शिक्षा दर्शन में हम देखते हैं कि वे समाज की प्रगति के लिए नारी और पुरुष दोनों में शिक्षा के समान वितरण पर बल दिया करते थे। उनकी मान्यता थी कि शिक्षा के अभाव में नारियों की यथेष्ट बुद्धि का विकास नहीं हो पाता है। शिक्षा के अभाव में नारी अपने वास्तविक अधिकारों को समझ नहीं पाता है। उनका कहना था कि 'बिना शिखा के नारी का उद्धार नहीं हो सकता।'[4]

आलोच्य गद्यांश में वर्णित बातों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि किसी भी समाज और राष्ट्र के नव निर्माण मे नारी और पुरुष दोनों की ही बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः नारी को भी पुरुष के साथ–साथ शिक्षित होने की आवश्यकता है। यहाँ उद्धार से अभिप्राय यह है कि समाज में नारियों के प्रति जो अत्याचार हो रहे हैं चाहे वह शारीरिक अत्याचार हो या मानसिक उत्पीड़न ही क्यों न हो उनके विरुद्ध संघर्ष करने की शक्ति अर्जित करना और शक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण नारी जाति का कल्याण होना। अब यहाँ पर एक सवाल हमारे मन में उभरकर आता है कि स्वामी विवेकानंद के मन में शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं को भी जोड़ने का विचार क्यों पनप उठा? यह हम जानते हैं कि वे एक आध्यात्मिक पुरुष थे और समाज के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हो उसके प्रति समान दृष्टि रखते थे। किसी भी वर्ग के प्रति वे वितृष्णा की भावना नहीं रखते थे। लेकिन स्वामीजी के शिक्षा दर्शन में नारियों को भी स्थान मिलने का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारण है अपने ससुराल में उनकी छोटी बहन योगेन्द्रबाला की आत्महत्या। इस आत्महत्या ने विवेकानंद जैसे

संन्यासी को भी विचलित कर दिया था। एक ऐसा संन्यासी जिन्होंने एक बार अपनी माता भुवनेश्वरी देवी से यह कहा था कि उनकी माया मर चुकी है। वे तो एक संन्यासी हैं। अपनी बहन की आत्महत्या के परिणाम स्वरूप उनका मन बहुत ही दुखी हो चुका था। उन्होंने इस विषय पर काफी चिंतन किया कि आखिर महिलाओं के साथ ऐसी घटना क्यों घटती है तो उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि इसका कारण नारियों में शिक्षा का अभाव है। स्वामीजी कहते हैं कि 'वह अपने ससुराल के वातावरण को अपने अनुकूल नहीं पा रही थी। पर अनुकूल और प्रतिकूल को पहचानने के लिए उसकी बुद्धि विकसित हुई थी क्या? उसे यथेष्ट शिक्षा मिली थी? पुरातन काल में तो ऐसा नहीं होता था। तब नारी भी पुरुष के समान स्वतंत्र थी उसको पूरी शिक्षा दी जाती थी'।[5]

हम यह देखते हैं कि अपनी बहन की पीड़ा से दुखी होकर उनका मानस सम्पूर्ण रूप नारियों की शिक्षा के प्रति डूब चुका था। उन्हें ऐसा लगा कि शिक्षा के अभाव की यह पीड़ा केवल उनकी छोटी बहन योगेन्द्रबाला की ही नहीं है बल्कि यह तो जैसे सम्पूर्ण भारतवर्ष की नारियों की दुर्दशा पर स्वामी विवेकानंद के ही विचारधाराओं का वर्णन इस प्रकाार किया है। 'बाल–विवाह की प्रथा कुछ इतनी प्रबल हो उठी थी कि लड़कियों की शिक्षा बंद कर दी गई। वहीं तो हुआ था योगेन्द्र के साथ। यह दुःख केवल योगेन्द्र का नहीं बंगाल ही नहीं, समग्र भारती की नारी का था। क्यों नहीं नारी को भी शिक्षा और उच्च शिक्षा दी जा सकती? क्यों उसे ब्रह्मवादिनी नहीं बनने दिया जता?'[6]

आलोच्य गद्यांश में यही बताने का प्रयास किया गया है कि नारी के जीवन की वास्तविक प्रगति शिक्षा और परम ब्रह्म की भक्ति में लीन होना ही है लेकिन इस तत्व को हमारे समाज ने काफी कम महतव दिया है। परिणाम स्वरूप हमारे समाज में नारियों की यह हीन स्थिति उत्पन्न हुई है। हम देख्तो हैं कि उनके मन में यह विचार आता है कि भले ही वे अपनी छोटी बहन योगेन्द्रबाल को नहीं बचा पाए हैं लेकिन अब उन्हें ऐसा प्रयास करना पड़ेगा की इस प्रकार की दुर्घटना सम्पूर्ण देश के किसी भी प्रान्त की कोई भी महिला के साथ न घटित हो क्योंकि इस देश में केवल एक ही योगेंद्रबाला नहीं है बल्कि अनेकों योगेंद्रबालाएँ हैं। उनके प्राणों की रक्षा करनी ही होगी। कदाचित यहीं कारण है कि स्वामीजी कहते हैं कि 'मुझे शक्ति दो प्रभु कि मैं इनके लिए कुछ कर सकूँ। यदि लड़कियों को भी शिक्षा की सुविधा उपलब्ध होती, तो शायद योगेंद्र और योगेंद्र जैसी अनेक लड़कियाँ अपने मानव जीवन का कुछ सार्थक उपयोग कर पाती'।[7]

आगे लेखक नरेंद्र कोहली लिखते हैं कि 'स्वामी को लगा कि उनके मन से योगेन्द्रबाला की पीड़ा तिरोहित हो गई है और उसके स्थान पर भारतीय नारी की पीड़ा आकर बैठ गई है। उन्हें नारी–शिक्षा के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता थी'।[8]

आलोच्य पंक्तियों के आधार पर यह कहना अनुचित न हो कि आगे चलकर जब वे लंदन गए और उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हीं की कृपा के फलस्वरूप सनातन धर्म ग्रहण करते हुए अपने गुरु की मातृभूमि का दर्शन करने और यहाँ के निवासियों को देखने के लिए जब भगिनी निवेदिता सन 1928 में भारत आई थीं तथा जिन्हें प्रथम दर्शन में ही कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'लोकमाता' कहा था उनके भारत दर्शन में आने का एक उद्देश्य इस देश की नारियों को शिक्षित करना भी था क्योंकि स्वामीजी उन्हें नारियों के शिक्षण कार्य में भी लगवाया था।

आलोच्य आलेख में स्वामी विवेकानंद के शिक्षा दर्शन को लेकर बात हो रही है। स्वामीजी के शिक्षा दर्शन पर बात करते हुए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे शिक्षा के क्षेत्र में मातृहभाषा, राष्ट्र की भाषा और जो व्यक्ति जिस धर्म से जुड़ा हुआ है उस धर्म की भाषा आदि की शिक्षा को महत्व दिया करते थे क्योंकि जब तक व्यक्ति को अपनी मातृभाषा, राष्ट्र भाषा और धर्म की भाषा का ज्ञान नहीं होगा तब तक अपने समाज, संस्कृति और अपने धर्म में जो आध्यातिमक संदेश निहित हैं उनकी जानकारी हो नहीं पाएगी और जब तक व्यक्ति स्वयं को नहीं जान पाएगा तब तक वह दूसरों के बारे में क्या जान पाएगा? स्वामीजी स्वयं को और स्वयं के देश को जानने की बात बार–बार किया करते थे। स्वामी विवेकानंद शिक्षा के क्षेत्र में मातृभाषा और धर्म की भाषा के किस कदर पक्षपाती थे इस बात को इस लम्बे उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। यह उदाहरण उस समय का है जब वे कोलकाता के मेट्रोपोलिटन इंस्टिट्यूशन में पढ़ा करते थे। समकालीन हिंदी उपन्यासकार नरेंद्र कोहली ने स्वामी विवेकानंद के जीवन में घटी इस घटना का वर्णन अपने उपन्यास में इस प्रकार किया है 'घंटी बजी और अध्यापक कक्षा में आए। लड़कों ने पुस्तकें खोलकर अपने–अपने सामने रख ली; किंतु अध्यापक का ध्यान पुस्तक की ओर नहीं था। वे तो एक नई चर्चा लेकर आए थे। मैं चाहता हूँ कि अब तुम लोगों में कुछ मेधावी छात्र अंग्रेजी पढ़नी भी आरम्भ कर दें। मैंने इस कार्य के लिए जिन विद्यार्थियों को चुना है उनमें से पहला नाम नरेंद्रनाथ दत्त का दूसरा.....। किंतु नरेंद्र ने अध्यापक को आगे बढ़ने नहीं दिया। वह उठकर खड़ा हो गया औरब ोला, गुरु महाशय! यदि आप अन्यथा न माने तो क्या मैं पूछ सकता हूँ कि हमें एक विदेशी भाषा क्यों पढ़नी चाहिए? अध्यापक ने आश्चर्य से नरेंद्र को देखा, क्या तुम नहीं देख रहे हो कि सब और पढ़े–लिखे लोगों में अंग्रेजी पढ़ने की होड़ लगी हुई है। तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि सौभाग्य ने स्वयं आकर तुम्हें अवसर दिया है। नरेंद्र न अध्यापक से सहमत हो पा रहा था और न उनका तर्क उसकी समझ में आ रहा था। उसकी इच्छा हो रही कि इतना उग्र विरोध करे कि भविष्य में गुरु महाशय कभी इस प्रकार का प्रस्ताव करने का साहस ही न के। उसने स्वयं को अनियंत्रित होने से रोकते हुए और अपने आवेश को यथासम्भव नियंत्रित करते हुए कहा कि होड़ में सम्मिलित

होना तो केवल भेड़ों की वृत्ति होती है गुरु महाशय! इसीलिए मैं पूछता हूँ कि हमे एक विदेशी भाषा पढ़ाने का अथवा हम पर एक विदेशी भाषा आरोपित करने का किसी को क्या नैतिक अधिकार है? अध्यापक हतभ्रम रह गए। उन्होंने अपने किसी भी छात्र से इस प्रकार की उग्र प्रतिक्रिया की कल्पना भी नहीं की थी। और फिर यह तो अंग्रेजी पढ़ने का विरोध कर रहा था; जिसको पढ़ने के लिए लाखों लोग लालायित थे। उन्होंने उसे अबोध समझकर समझाने का प्रयत्न किया, हम सब जानते हैं कि आज सारा आधुनिक ज्ञान–विज्ञान अंग्रेजी में ही है। उस भाषा का ज्ञान पाकर तुम्हें संसार का सारा ज्ञान उपलब्ध हो जाएगा। क्या तुम यह नहीं चाहते? वे कुछ रुके और अपनी बात को दूसरी ओर मोड़ते हुए बोले, संसार के सारे विद्वान अधिक से अधिक भाषाएँ सीखना चाहते हैं'।[9]

स्वामीजी शिक्षा को धर्म का अंग मानते थे। अतः उसका विक्रय नहीं किया जा सकता है। प्रख्यात लेखिका सुनीता भटनागर लिखती हैं कि 'विवेकानंद शिक्षा को व्यापार बनाने के विरुद्ध थे। उनका मत था कि केवल शुल्क देने मात्र से ही व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं होता। वर्तमान में विद्यार्थियों के मस्तिष्क में यह विचार घुस गया है कि वे शुल्क देते हैं इसलिए उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। इस प्रकार आज शिक्षक वैतनिक व्याख्याता से कुछ अधिक नहीं रह गया है। विवेकानंद ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली की गुरुकुल प्रणाली से एकदम भिन्न थी। विद्यार्थियों को शुल्क नहीं देना पड़ता था ऐसी धारना थी कि ज्ञान इतना पवित्र है कि उसे किसी मनुष्य को बेचना नहीं चाहिए। ज्ञान का दान मुक्त हस्त होकर, बिना मूल्य लिए करना चाहिए'।[10]

आलोच्य गद्यांश में वर्णित बातों की व्याख्या इस प्रकार किया जा सकता है कि हिंदू चिंतन के अनुसार विद्या या ज्ञान को ब्रह्म स्वरूप माना गया है। ज्ञान जब ब्रह्म ज्ञान है तब इसे विक्रय करना पाप माना जाता है। ज्ञान या शिक्षा को भगवान के प्रसाद के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

सुनीता भटनागर लिखती है कि 'स्वामी विवेकानंद के अनुसार शिक्षा क्या है, क्या वह पुस्तकी विद्या है? क्या वह नाना प्रकार का ज्ञान है? नहीं यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है वह फलदायक होता है वह शिक्षा कहलाती है'।[11]

मैं आलोच्य आलेख में स्वामी विवेकानंद के शिक्षा दर्शन पर बात कर रहा हूँ। हम यह जानते हैं कि संन्यास ग्रहण करने के उपरांत एक परिव्राजक के रूप में सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था और भ्रमण करते हुए वे खेतड़ी के राजा अजित सिंह के यहाँ पहुँचे और जीवन और आध्यात्म से सम्बंधित विभिन्न चर्चाएँ करते हुए शिक्षा के विषय में भी आत की। जब राजा ने स्वामीजी से पुछा कि शिक्षा क्या है? तो स्वामीजी ने राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि 'विचारों का स्त्रायु से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ने का नाम शिक्षा है'।[12]

आलोच्य गद्यांश में वर्णित बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वामीजी शिक्षा का अर्थ केवल पढ़ना–लिखना या किसी विषय पर ज्ञान प्राप्त करने को ही नहीं मासनते थे बल्कि ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसकी प्रयोगात्मकता पर भी बल दिया करते थे। अपने निजी जीवन उस ज्ञान को उतारने की बाद करते हैं। उस ज्ञानकी स्करात्मकता के साथ अपने जीवन को संचालित करने की बात करते हैं। केवल उस ज्ञान से व्यक्ति को अपने निजी जीवन की प्रगति पर ही उसे लागु नहीं करना चाहिए बल्कि इस बात का ध्यान रखना चाहिहए कि उससे सम्पूर्ण विश्व के मानव जीवन का कल्याण किस प्रकार किया जा सकता है। शिक्षा का सम्पूर्ण प्रभाव शिक्षित व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन में दिखना भी चाहिए अन्यथा इसका कोई महत्व नहीं रहेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. युगनायक विवेकानंद, प्रथम खंड, लेखक स्वामी गंभीरानंद,पृष्ठ संख्या, 3
2. वहीं पुस्तक, प्रथम खंड, पृष्ठ संख्या,3
3. उपरिवत
4. तोड़ो कारा तोड़ो, खंड 3, खंड का नाम परिव्राजक, पृष्ठ संख्या, 53, लेखक नरेन्द्र कोहली
5. उपरिवत, पृष्ठ संख्या, 52
6. उपरिवत
7. वहीं पुस्तक, पृष्ठ संख्या 52 और 53
8. उपरिवत, पृष्ठ संख्या, 53
9. तोड़ो कारा तोड़ो, खंड 1, खंड का नाम निर्माण, पृष्ठ संख्या, 89, लेखक नरेंद्र कोहली
10. विवेकानंद का समाज दर्शन, पृष्ठ स-ाख्यज्ञ, 110, लेखिका सुनीता भटनागर
11. लेखिका ओर पुस्तक उपरिवत, पृष्ठ संख्या, 105
12. तोड़ो कारा तोड़ो, खंड तीन, नाम परिव्राजक, लेखक नरेंद्र कोहली

■

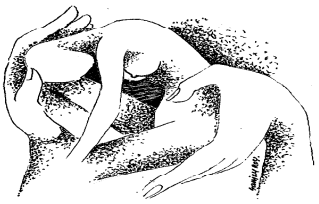

संस्कृति

कश्मीर का लोकनाट्य : भांड़ पाथेर

ललित कुमार सिंह

दुनिया की अधिकांश कलाएं उत्सवधर्मिता की स्निग्ध छाया में पनपी और पोषित हुई हैं। उत्सव सामूहिकता और सामाजिकता में ही फलीभूत होते हैं और इन्हीं उत्सवों में खुशी जाहिर करने तथा मनोरंजन करने के लिए कलाओं को विकसित किया गया। कश्मीर प्राकृतिक सौंदर्य के लिए तो जाना ही जाता है कभी एक जमाने में कला और साहित्य का केंद्र भी था। कश्मीर की राग–रागनियों तथा कलाओं ने एक व्यापक जनसमुदाय का मनमोहित किया है। 'भांड़ पाथेर' कश्मीर का एक जनप्रिय लोक नाटय रूप है जिसे कश्मीर का सबसे सौंदर्यवादी नृत्य भी माना जाता है। 'भांड़' शब्द संस्कृत रंगमंच के पात्र यानी नाटक के पात्र से लिया जाता है। कश्मीर में भांड़ पाथेर को मसखरे का नाटक भी कहा जाता है। यह एकालाप नहीं बल्कि सामाजिक नाटक है। इसमें पौराणिक कथाएं तथा सामाजिक व्यंग्य शमिल हैं। 'राधा कृष्ण बारु' लिखते है कि "हो सकता है भांड़ पाथेर का जन्म उसी प्रकार धर्म की गोद में हुआ हो परंतु उसके वर्तमान स्वरूप को देखते हुए हम कह सकते हैं कि उसका दृष्टिकोण धर्मिक नहीं धर्मनिरपेक्ष है उसमें ध ार्मिक भावनाओं का नहीं सामाजिक समस्याओं का चित्रण पाया जाता है। भांड़ पाथर एक प्रकार से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक आदि समस्याओं पर व्यंग है कटाक्ष है। इसी व्यंग और कटाक्ष के कारण ही यह कश्मीर के लोगों में सदा से इतना लोकप्रिय बना रहा है,क्योंकि उसमें उनके मनोभावों का यथार्थ चित्रण पाया जाता है।"[1]

भांड़ पाथेर कश्मीर की कला, संस्कृति और कश्मीरियत को अभिव्यक्त करने वाला एक सशक्त लोकनाट्य है। यह कश्मीर के जनमोत्सव से जुड़ा है। कश्मीर में भांड पाथेर की परंपरा कब से है यह तो तय नहीं है लेकिन इसकी प्रदर्शन शैली के आधार पर कह सकते हैं कि इसकी एक समृद्ध परंपरा है जिसके

संपर्क – शोधार्थी/रंगकर्मी–हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (मुखौटा तथा कठपुतली कला पर शोधकार्य), मो॰ 9335980492, Email. lalitkumarsingh251@gmail.com

सूत्र संस्कृत रंगमंच से मिलते हैं। रंगकर्मी 'रवि खेमू' बातचीत के दौरान कहते हैं कि भांड पाथेर की परंपरा भरतमुनि के नाटयशास्त्र के जमाने से ही प्रचलित है। इसके कई प्रदर्शन प्रयोग संस्कृत रंगमंच से मेल खाते हैं। इसमें परंपराशील नाटय की तरह ही रामायण, महाभारत तथा सामाजिक संवाद के कथानकों को आधार बनाया जाता था। जगदीशचंद्र माथुर 'परम्पराशाील नाटय' में लिखते हैं कि "कश्मीर का भांड़जशन संस्कृत–रूपक भाण की याद दिलाता है। किंतु, कश्मीरी भांड़ बहुपात्री और गीत तथा नृत्यों से भरपूर नाटय है, जबकि संस्कृत भाण एकपात्री गद्य प्रधान विधा है, जिसमें पात्र नेपथ्य की ओर उन्मुख होकर विभिन्न कल्पित पात्रों से वार्तालाप करता है।"[2] कश्मीर में कई कला प्रिय और कला पारखी राजा हुए हैं जिनके शासन काल में कई कलाओं और कलाकारों को राजाश्रय मिलता था। कश्मीर में 'लितादित्य' नाम के राजा का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिनको नृत्य, संगीत और नाटक बहुत प्रिय थे। उनके शासनकाल में इन कलाओं को बहुत प्रात्साहन मिला। कश्मीर नें नृत्य, गीत–संगीत तथा नाट्यकलाएँ अपने पूर्ण विकसित अवस्था में भी इसके प्रमाण हमें 'कल्हण' की राजतरंगिणी से मिलते हैं। "प्रत्येक गांव में नाट्यकलाएँ हैं जहां नाटय कला का प्रदर्शन होता है। वर्षा की बूंदें आने पर इन नाट्यकलाएँ हैं जहां नाटय कला का प्रदर्शन होता है। वर्षा की बूंदें आने पर इन नाटयशालाओं से दर्शकों की अपार भीड़ इस प्रकार चारों ओर विखर जाती है जैसे राजा की सेना कहीं कूच करती हुई चारों ओर फैल रही हो।"[3] भांड़ पाथेर की कला अपने उत्कृष्टता की ओर बढ़ रही थी। कई कलाकारों को हिंदू राजाओं के दरबार में राजाश्रय भी मिलता ासथा लेकिन इस्लाम शासकों के आने के बाद इसको कई जगह से बेदखल कर दिया गया फिर भी इसकी लोकप्रियता इतनी ज्यादा थी जिससे वह अपनी समृद्धि परंपरा के बचाए रख सका। कश्मीर में जैनुल आब्दीन, अली शाह और हसन शाह जैसे शासक भी हुए हैं जिनके शासनकाल में कलाओं को काफी प्रोत्साहन मिला है। जैनुल आब्दीन (15वीं शताब्दी) के दरबार में कला प्रिय माहौल होता था उसके दरबार में ही ईरान, तूरान, समरकंद, काबुल, पंजाब तथा दिल्ली के कलाकार शिरकत करते थे। उसका दरबारी कवि 'श्री बराह' उच्च कोटि का संगीतज्ञ और कला प्रेमी था। श्री बराह ने लिखा है कि "उस समय के दर्शक और कलाकार दोनों ही साहित्य, काव्य,दर्शन आदि के पारखी थे। कलाकारों में बहुत सी स्त्रियां भी थी जो संगीत में निपुण थीं। उनमें कंठमाधुर्य अद्वितीय था। वे दरबार की शोभा मानी जाती थीं। प्रसिद्ध अभिनेत्री तारा और उसके अन्य साथी नृत्य और संगीत की एक–एक ताल और लय पर गा सकते थे। उनमें उत्सवा नाम की एक सुंदर नायिका भी थी।"[4] "यूं तो 14वीं शताब्दी ही में उदरह्रदय और

रसमर्मज्ञ मुसलमान राजा जैनुअ आब्दीन ने अपने दरबार में संगीतज्ञों और नटों को विशेष प्रोत्साहन दिया, किन्तु काश्मीर की विशेष नाटय विधा 'भाड़ पर्थ' का विकास परवर्ती राजाओं अलीशाह और हसनशाह की राज्यावधि के बाद हुआ जान पड़ता है। अलीशाह और हसनशाह ने कर्नाटक से कुछ गायकों को अपने दरबार में बुलाया और इसके फलस्वरूप अनेक कर्नाटक राग–रागनियां कश्मीर की 'मुकाम' – पद्धति में सम्मिलित कर दी गईं।"[5]

कश्मीर में सूफी दरगाहों पर मेला लगता था जहां पर भांड पाथेर के कलाकार अपनी छिटपुट प्रस्तुतियां करते थे। वहां सूफी दरगाह पर भाड़ पाथेर के धार्रिक कथानकों को छोड़कर उसके सामाजिक कथानकों को संरक्षण प्राप्त हुआ जिस कारण भांड पाथेर को प्रोत्साहन तो मिला लेकिन उसके कथानकों में बदलाव आ गया। भाड़ पाथेर में दो तरह के कथानक प्रस्तुत किए जाने लगे। पहला चरित्र प्रधान (जिसमें संरक्षण देने वाले तथा चरित नायकों) का बखान होता था दूसरा सामाजिक प्रहसनों का। एसे में भांड़ पाथेर किसी धर्म विशेष का न होकर धर्मनिरपेक्ष हो गया जो सर्व धर्म सम्भाव की बात करने लगा। नाटय निर्देशक 'एम.के रैना' जिन्होंने कश्मीर में भांड़ पाथेर के कलाकारों के साथ कार्यशाला की है उनका मानना है कि "भांडों का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण उनके गतिशील उनके गतिशील लोक रूप में परिलक्षित होता है, जिसमें शास्त्रीय संस्कहृत थियेटर के साथ–साथ भारत के अन्य पारम्परिक लोक रूपों के तत्व शामिल हैं। लेकिन कई वर्षों में कई पहलू खो गए हैं और अन्य में नाटकीय बदलाव आया है। हिन्दू पैदा हुए भांड इस्लाम में परिवर्तित हो गए लेकिन अपने दृष्टिकोण में धर्मनिरपेक्ष बने रहे।"[6] कश्मीर के अनंतनाग जिले की पहाड़ियों के बीच एक भगवती का मंदिर है जहाँ पर भांड़ पाथेर के कलाकार जो कि मुस्लिम हैं एक अनुष्ठानिक नृत्य करते हैं। यह नृत्य भक्ति और विश्वास से पूर्ण होता है। इस नृत्य को 'छोक' कहते हैं। यह नृत्य मुस्लिम तीर्थ स्थलों सूफी दरगाहों पर भी प्रस्तुत किया जाता है।

ऐसे कला प्रिय माहौल में ही भांड़ पाथेर पल्लिवत–पोषित और विकसित हुआ लेकिन एक समय अंतराल में उसमें कई तरह के बदलाव आ गए। कश्मीर में मुगल, पठान, सिख और डोंगरा शासकों ने शासन किया जिसमें से अधिकांश शासकों ने कलाओं को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जिस कारण भांड़ पाथेर की समृद्ध परंपरा क्षीण होने लगी। एम.के रैना बताते हैं कि 10वीं शताब्दी के बाद का समय एक ऐसा समय रहा है जब घाटी में विदेशी आक्रमण हुए थे, सामाजिक जीवन परेशान था और कश्मीरी अपनी ही भूमि में एक गुलाम की जिंदगी जीने के लिए विवश थे। जहां उन्हें विदेशी संस्कृतियों, धार्मिक और सामाजिक–राजनीतिक

प्रणालियों का सामना करते हुए रहना पड़ा। यह क्रॉस एक्सचेंज राज्य की लोक परंपरा में भी आता है। लोगों के साथ होने वाले अन्याय को बेतुके या विनम्र के रूप में नाटकों में व्यक्त किया गया था, चाहे वह 'डारजा पाथर' में राजा हो या 'शिकारा' में शाही सैनिक, जो फारसी में गरीब और अनपढ़ कश्मीरी से बात करते हैं और उनसे एक विदेशी जबान समझने की उम्मीद करते हैं जवाब न देने पर कोड़े से प्रहार करते हैं। या 'अंगरेज पाथेर' में अंग्रेजी दंपति जो शिकार पर निकलते समय रेस्टहाउस गार्डको भाषा का उल्लसित संस्करण बोलते हैं। कश्मीर की राजनीतिक अस्थिरता युद्ध के माहौल और विस्थापन के दौर ने वहां की सामाजिक संरचना और कलाओं को बहुत प्रभावित किया। ऐसे में भांड़ पाथेर की सामाजिक स्वीकार्यता और लोकप्रियता ही थी जिसने जनसाधारण के बीच इसको बहुत सीमित क्षेत्रों में ही सही लेकिन जीवित बचाये रखा। भाड़ पाथेर आमतौर पर पंच सोपोर, राजौरी, पहलगाम और किश्तवार जैसे क्षेत्रों में किया जाता है यह कश्मीर के प्रसिद्ध क्षेत्र हैं जहां कई वर्षों से इस पारंपरिक लोक नृत्य का प्रदर्शन किया जाता है। रवि केमू बताते हैं कि जब पहले राजवंशों का शासन था तो भांड पाथेर के कलाकार शासकों को पूरे क्षेत्र की जानकारी देते थे, दरबारों में प्रदर्शन करते थे, शासकों के लिए आशीर्वचन बोलते तथा उनका गुणगान करते थे जिससे प्रसन्न होकर उनको बहुत सारी बख्शीस मिलती थी। फिर जब राजवंश नहीं रहे तो उनके बाद जमींदारों के यहां भांड पाथेर के कलाकार जाते थे। उनके यहां फसलों की सुरक्षा, मानसून के संतुलन और समृद्धि के लिए प्रर्थनाएं करते थे जिससे वहाँ भी उनको बख्शीस मिलती थी। कश्मीर के भांड़ लोग गाँव से गाँव तक भटकते रहते थे और लोगों द्वारा दी जाने वाले खुद के लिए भोजन, पैसा और कपड़ा इकट्ठा करते थे, जो उनकी आय और अस्तित्व का एकमात्र स्त्रोत था।

भांड़ पाथेर अभिनय, नृत्य और संगीत से परिपूर्ण पारम्परिक रंगमंच है इसकी प्रदर्शन शैली में कई ऐसे तत्व हैं जो संस्कृत रंगमंच की परंपरा से सम्बद्ध हैं। जैसे की इसका पूर्वरंग जो संस्कृत रंगमंच की तरह अनुष्ठानिक होता है तथा इसमें परदे का प्रयोग 'यवनिका' की तरह किया जाता है। जो कहीं न कहीं कुड़ियाट्टम तथा यक्षगान की तरह लगता है। भांड़ पाथेर के कलाकार अभिनय, नृत्य तथा गीत–संगीत में निपुण होते हैं। मण्डली के नेता को 'महागुनी' कहा जाता है जो सभी कलाओं में प्रतिभा सम्पन्न होता है। भांड़ पाथेर की प्रस्तुतियाँ आमतौर पर खुले मंच पर की जाती हैं जिसमें सबसे पहले नगाड़े को बजाता हुआ एक कलाकार आता है और ऐलान करता है। जिससे लोगों को पता चल जाये कि यहां पर आज भांड़ पाथेर की प्रस्तुति होनी है। फिर महागुनी के पीछे सभी कलाकार कतार में आते हैं और दर्शकों का अभिवादन करते हैं। इसका प्रदर्शन

मंच नुक्कड़ नाटकों की तरह होता है जिसमें ओर दर्शक होते हैं और बीच में प्रदर्शन स्थल। प्रत्येक नाटक में 15 से 20 कलाकार होते हैं। इसकी पोशाकें पारम्परिक तथा पात्र के अनुकूल होती हैं। 'रवि खेमू' बताते हैं कि मंचन के दौरान अभिनेता दर्शकों के बीच से होकर आता है और वह दर्शकों से बहुत ज्यादा इंटरेक्शन करता है। मंचन के दौरान भावों में ज्यादा गहनता लाने के लिए कई तरह के मुखौटों और कठपुतलियों का प्रयोग किया जाता है। 'शिकारगाह' जो एक सामाजिक प्रहसन है जिसमें जंगली जानवरों, पशु–पक्षियों को शिकारियों से बचाने की कोशिश में एक सामाजिक व्यंग है। इस नाटक में जंगली जानवरों को मंच पर दिखाने के लिए अभिनेता शेर, भालू, हिरन, बन्दर आदि कई जानवरों के मुखौटे धारण करते हैं तथा आंगिक अभिनय द्वारा उनको मंच पर साकार करते हैं। ऐसे ही एक नाटक 'गोसाईं पाथेर' के बारे में एम.के रैना कहते हैं कि "गोसाईं पाथेर शिव और कश्मीर के शैवियों के बारे में है इसमें अभिनेता राजाओं या चुड़ैल के पात्रों के माध्यम से उत्पीड़न भी भावना को पेश करने के लिए मुखौटे के साथ बड़े–बड़े कठपुतलियों का प्रयोग करते हैं।"[7] भांड़ पाथेर के कलाकार कश्मीर से अन्य जगहों पर भी अपनी प्रस्तुतियां देने जाते थे और वहां की कला और संस्कृति से प्रभावित होकर अपने भांड़ पाथेर में कुछ नई प्रदर्शन शैली तथा कथानकों को जोड़ते थे। जैसे कि 'ऊँट पाथर' इसमें एक पात्र को ऊँट की सवारी करते हुए मंच पर दिखाया जाता हैं। ऊँट के आकार के बने कपड़े के अंदर घुस जाते हैं और ऊंट का मुँह के लिय मुखौटा लगा दिया जाता है। "संस्कृत नाटकों में सूत्रधार प्रस्तावक का काम करता है, किन्तु आंचलिक नाटय मं सूत्रधार प्रस्तावक भी है और वाचक भी।"[8] भांड़ पाथेर में मसखरे की महत्वपूर्ण भूमिका होती है उसके पास संस्कृत रंगमंच के विदूषक की तरह एक छड़ी सदैव हाथ में रहती है। वह उससे कई तरह के कार्य व्यापार करता है। इसमें एक कोड़े का भी प्रयोग किया जाता है जिसके बारे में 'रवि केमू' बताते हैं कि वह सत्ता की ज्यादतियों का प्रतीक है। इसमें 'सुरनाई' जैसे संगीत वाद्ययंत्र का प्रयोग किया जाता है। जो पेशावर, ढोल और नगाड़ा के साथ भारतीय शहनाई का कश्मीरी संस्करण है। भांड़ पाथेर का संगीत काफी हद तक सूफियाना संगीत से भी प्रभावित है। भांड़ पाथेर का संगीत काफी हद तक सूफियाना संगीत से भी प्रभावित है। भांड़ पाथेर की प्रमुख भाषा कश्मीरी है लेकिन इसमें डोंगरी, पंजाबी, फारसी और कभी–कभी नाटकीयता लाने के लिए अन्य भाषाओं का भी प्रयोग किया जाता है। भांड़ पाथेर के कुछ कथानक तो पारम्परिक हैं लेकिन कुछ में विकृतियां आ गई हैं। लोक कलाओं के कथानक प्रायः मौखिक होते हैं और वह इसी परंपरा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित भी होती हैं। पीढियां अपने जीवनबोध कथानकों में जोड़ती

जाती है जिससे कला परिमार्जित होती जाती है। लेकिन कश्मीर के कलाप्रिय माहौल को वहाँ की रजनीतिक अस्थिरता और तथाकथित आतंकवाद ने अशांति से भर दिया। जिस कारण एक बहुत बड़ी संख्या में भांड पाथेर के पारंपरिक कलाकार और कला रसिक विस्थापन का शिकार हुए। देश के विभिन्न क्षेत्रों में उन्हें जिंदगी की जद्दोजहद से जूझना पड़ा। जिस कारण वो अपनी कला को छोड़ कर जीवनयापन के लिए कुछ अन्य कार्य करने लगे। लखनऊ में एक कश्मीरी कॉलोनी है जहाँ विस्थापित कलाकारों ने बहुत पहले कुछ प्रस्तुतियां की थी। "1904 ई॰ में प्रकाशित लखनऊ के गजेटियर में लखनऊ में खेलनेवाली एक कश्मीरी मण्डली का विवरण दिया गया है। यह मण्डली अपने प्रहसनों में अंग्रेजी राज की कचहरियों, पुलिस के अफसरों और गोरे साहबों के कुत्सित घरेलू और सामाजिक जीवन का धड़ल्ले से खाका खींचती थी"[9] लेकिन आज देश के कई क्षेत्रों में कश्मीरी हैं पर उनकी समृद्ध भांड़ पाथेर की परंपरा पीढ़ियों की समृतियों में ही है। कश्मीर के मुश्किन दौर में भी बहुत सी पीढियां अंधेरे से लड़ते–जूझते अपने को और अपनी कला को विस्थापित होने तथा समाज को कला विहीन होने से बचा लिया। कश्मीर की मरणासन्न भांड़ पाथेर की कला को सक्रिय करने और संवर्धन करने में पद्मश्री 'मोतीलाल खेमू' का नाम विशेष उल्लेखलीय है। जिन्होंने भांड़ पाथेर के पारंपरिक कलाकारों (जो कि अपने साज–समान बन्द कमरों में रख कर किसी अन्य कामों में लग गए थे) से बातचीत की और फिर से कला प्रदर्शन के लिए प्रोत्साहित किया। मृत पड़ी कला मंडलियाँ मोतीलाल खेमू कील कला सक्रियता और प्रोत्साहन से प्रभावित होकर फिर से सक्रिय हो गईं। मोतीलाल खेमू ने भांड़ पाथेर के कथानकों में भी सुधार किया तथा नए सामाजिक प्रहसनों की रचना की। जिसमें कई सामाजिक पक्षों तथा समुदायों पर व्यंग है। कश्मीर में आतंकवाद अैर साम्प्रदायिक माहौल के चलते चलते जो अशांति हुई है उसके स्थान पर सौहार्दपूर्ण माहौल बनाने में भांड़ पाथेर के कलाकारों की महत्वपूर्ण भूमिका है। वो अपने नाटकों के माध्यम से इन पर व्यंग करते थे। जिस कारण मण्डलियों और कलाकारों को इस कला को बंद करने की धमकी भी मिलती थी। कुछ वर्ष पहले 5 भांड़ पाथेर कलाकरों की आतंकवादियों द्वारा हत्या कर दी गई थी। रवि खेमू बाताते हैं कि इस घटना के बाद भांड़ पाथेर की मण्डलियां 4–5 वर्ष के लिए मृतप्राय सी हो गईं थीं। कोई प्रस्तुति नहीं हुई चारों तरफ डर का माहौल हो गया था। लेकिन जब लोगों ने अपने डर को जीतकर प्रस्तुतियां की तो 5–6 लाख लोगों ने एक साथ भांड़ पाथेर की प्रस्तिुति देखी। भीड़ इतनी भी कि बमुश्किल से अभिनेताओं को मंचन के लिए जगह बची थी। ये लोगों का अपनी कला के प्रति अगाध प्रेम और लोकप्रियता थी। भांड़ पाथेर आज भी सक्रिय

है लेकिन इसकी लोकप्रियता धीरे–धीरे कम हो रही है। इसका बहुत बड़ा कारण है रफ्तार से भागती हुई जिन्दगी, सो कॉल्ड लोगों द्वारा इस कला को हीन भावना से देखना, पुराने कथानकों में नवाचार की कमी। भांड़ पाथेर अब कुछ अवसर विशेष तक ही सीमित होकर रा गया है। दिनों–दिन इसके दर्शकों की संख्या कम होती जा रही है। जिस कारण कलाकारों को आर्थिक सहयोग या बख्शीस बहुत कम मिल पाती है। जिससे जीवनयापन कर पाना बहुत मुश्किल हो जाता है। ऐसे में कई पारम्परिक कलाकार अपनी कला को छोड़कर अन्य कामों में लग गए हैं। भांड़ पाथेर में जो भी कलाकार अभि बचे हुए हैं वो ज्यादातर पुरानी पीढ़ी के हैं नयी पीढ़ी जैसे परहेज ही कर रही है। पिछले कुछ वर्षों से नई पीढ़ी के कलाकार भांड़ पाथेर की कला को प्रस्तुत कर रहे हैं लेकिन व्यापक स्तर पर अभी भी प्रदर्शन नहीं हो रहे हैं। रवि खेमू, एम.के रैना जैसे उत्साही रंगकर्मी जिन्होंने पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के कलाकारों के साथ मिलकर भांड़ पाथेर की कार्यशालाओं का आयोजन किया, जिससे उम्मीद जगती है कि इस समृद्ध परंपरा को काल कवलित होने से बचाया जा सकता है। यह कला अपने सामाजिक संदर्भों और कटाक्षों के माध्यम से एक सामुदायिक भावना विकसित करती है और एक व्यापक जनसमुदाय का दिग्दर्शन करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. ब्रारु 'राधा कृष्ण' 'कश्मीर का लोक नाट्य भांड़ पाथर' नटरंग (अंक–8, अक्टूबर–दिसम्बर 1968) पृष्ठ संख्या–54
2. माथुर 'जगदीश चंद्र' 'परम्पराशील नाट्य' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, वर्ष 2000, पृष्ठ संख्या–8
3. ब्रारु'राधा कृष्ण' 'कश्मीर का लोक नाटय भांड़ पाथर' नटरंग (अंक–8, अक्टूबर–दिसम्बर 1968) पृष्ठ संख्या–55
4. " " " पृष्ठ संख्या–56
5. ब्रारु'राधा कृष्ण' 'नाटय' संगीत अकादमी–1962
6. www.Koausa.org > Bhanadpather Web results The Bhand Pather of Kash-mir-Kashmiri Overseas Association
7. " " " "
8. माथुर 'जगदीश चंद्र' 'परम्पराशील नाटय' बिहार राष्टभाषा परिषद, पटना, वर्ष 2000, पृष्ठ संख्या–8
9. माथुर 'जगदीश चंद्र' 'परम्पराशील नाटय' बिहार राष्टभाषा परिषद, पटना, वर्ष 2000, पृष्ठ संख्या–44

■

बुदेली संस्कृति और लोकगीत

डॉ. प्रियंका

मानव ने प्रत्येक कार्य को अपनी रसानुभूति से गीतमय बनाया। स्वरों की तन्मयता होने पर लाय की उत्पत्ति होती है। श्रम से क्लान्त होने पर श्रमिक गीत गाता है, पशु चारण के समय में चरवाहे के स्वर सम्पूर्ण वन को संगीतूमय कर देते हैं, आटा पीसते वक्त चक्की के दोनों पाटों में लय और स्वर एक साथ गूँजते हैं। पनघट पर पनिहारिनें जब कुँआ से पानी निकालती हैं तो रस्सा डालते व खींचते समय चक्के में से सुर–लय का संचार होता है,उसी चक्के की लय से पनिहारिने पनघटमय गीतों का गायन आरंभ करती हैं, उनके कंठ से जो गीत प्रस्फुटित होते हैं वे पनिहारिनें के सिर पर रखे कई घड़ों व हाथों में पकड़े हुए कलसों के भार से मुक्ति दिलाते हैं व पनिहारिनें सुगमतापूर्वक अपना पनघट से घर तक का मार्ग तय कर लेती हैं। ऐसे ही अन्य कार्यों में जैसे कि खेतों में रोपाई, सिंचाई, कटाई के समय गीत गाए जाने से किसानों को नव स्फूर्ति का अनुभव होता है।

प्रकृति के समस्त रूप लोकगीतों में ही विद्यमान हैं, जैसे सूर्य–चन्द्र, आकाश–पृथ्वी, नदी–वर्षा, पर्वत–पठार, खेत–खलिहान, पशु–पक्षी, जीव–निर्जीव आदि सभी के दर्शन लोकगीतों में सहज ही है। लोकगीतों ने स्वयं में प्रकृति को समाया हुआ है। मनोरंजन ओर आनंदोल्लास के लिए त्योहारों, ऋतुपर्वों आदि अवसरों पर जनसमूह द्वारा लोकगीतों के माध्यम से अपनी कलात्मक अभिरुचि को अभिव्यंजित किया जाता है। सुख–दुःख, जन्म, विवाह–संस्कार आदि कोई भी अवसर ऐसा नहीं जिसमें लोकवाणी गीतों के रूप में प्रस्फुटित न हुई हो। लोकगीत मुख्यतः सामुहिक गीत हैं। लोकगीत शास्त्र सम्मत नहीं वरन् भाव सम्मत हैं। यह शास्त्र विहीन रचनाकारों की ऐसी कृति है जिसमें जनमानस के सहज और सरल भावों को अभिव्यंजित किया जाता है। लोकगीतों में संगीत का सामंजस्य विद्यमान रहता है। लोकगीतों में सुरों के संबंध में लिखा गया है–'लोकगीतों में कम से कम दो और अधिक से अधिक नौ स्वरों का प्रयोग होता है। लोकगीत में अधिकतर सात शुद्ध स्वरों और दो विकृत कोमल–गंधार व कोमल निषाद स्वरों का प्रयोग मिलता है, अर्थात् उनमें मुख्यतः विलावल, कॉफी, खमाज थाटों के स्वर

लगते हैं।'[1] लोकगीत प्रकृति का सुकुमार्य है। किसी क्षेत्र विशेष की भाषा, वेशभूषा, प्रकृति, धर्म–कर्म, रहन–सहन, संस्कृति को अभिव्यक्त करने का सबल माध्यम हैं–लोकगीत। इसी कारण विभिन्न स्थान व भाषाओं मे आधार पर लोकगीत अलग–अलग नाम से जाने जाते हैं, जैसे बृज के लोकगीत,जम्मू कश्मीर के लोकगीत, बुंदेलखण्ड के लोकगीत, राजस्थान के लोकगीत, पंजाब के लोगगीत, पूर्व के लोकगीत आदि।

लोकगीतों के माध्यम से मनुष्य ने अपनी हृदयस्थ भावनाओं को स्वरें द्वारा मुक्त रूप से अभिव्यंजित किया है। एक बार सत्यार्थी जी ने महात्मा गांधी से 'धरती गाती है का आमुख लिखने का आग्रह किया, गांधी जी ने लोकगीतों के संबंध मे उनसे कहा–'सचमुच लोकगीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, फसलें गाती है, उत्सव ओर मेले, ऋतुएँ और परंपराए सभी गाते हैं।'[2]

भारतीय संस्कृति को लोकगीतों ने आत्मसात् किया हुआ है। संस्कृति समाज की आत्मा में बसती है, किसी भी समाज को जानने, समझने के लिए संस्कृति अहम् होती है। 'संस्कृति वह संस्था है जो समाज को सभ्य बनाती है। यह सभ्य समाज व्यक्ति के रचनात्मक पहलू को अनुकूल वातावरण प्रदान करता है।'[3] भारतीय संस्कृति सैकड़ों वर्षों से स्वयं को पुष्पित करती हुई आ रही है, वर्तमान में यह स्वीकार किया जा चुका है कि भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे पुरानी संस्कृति है। भारत देश में अनेक संस्कृतियों का आगमन हुआ, भारतीय संस्कृति ने उन सभी संस्कृतियों को स्वयं में आत्मसात् किया। भारतीय संस्कृति के इस सामंजस्य के बारे में डॉ. राजेन्द्र यादव लिखते हैं–'अनेकानेक धर्मों, सभ्यताओं और संस्कृतियों को अपने में समाहित किए हुए इस भातरीय संस्कृति को सामासिक संस्कृति कहना ही उचित प्रतीत होता है।'[4] भारतीय संस्कृति के इसी सामंजस्य को देखकर सिकंदर ने कहा था कि 'मैं तलवार खींचकर भारत आया था और हृदय देकर जा रहा हूँ।

भारत देश में अनेक प्रांत हैं। सभी प्रातों की अपनी अलग–अलग संस्कृति है। हमारा देश में संस्कृतियों का ऐसा गुलदस्ता है जिसमें विभिन्नता होने से उसमें तरह–तरह के फूल हैं। उनमें बुंदेली समाज की संस्कृति के फूल भी बहुत मनोहर हैं। बुन्देलखण्ड मध्य भारत का एक प्राचीन क्षेत्र है। इसका विस्तार मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में भी है। बुंदेली इस क्षेत्र की मुख्य बोली है। बुंदेलखण्ड को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो विद्वानों द्वारा पौराणिक काल के 16 महाजनपदों में से एक 'चेदि जनपद' को प्राचीन बुंदेलखण्ड माना गया है। प्राचीन समय में गंगा और नर्मदा के बीच के क्षेत्र का नाम चेदि था। वर्तमान में मध्यप्रदेश के ग्वालियर क्षेत्र में चंदेरी कस्बा ही प्राचीन काल के चेदि राज्य की राजधानी बताया जाता है। यहाँ अनेक शासकों ने राज किया। यहाँ कलिचुरि वंश ने राज्य किया। शिशुपाल यहाँ का प्रसिद्ध राजा था। बुंदेलखण्ड के दक्षिण भाग पर अशोक का शासन था। अशोक के अनेक स्थानों पर यहाँ विहार व मठों का निर्माण करवाया। वर्तमान गोलकी मठ अशोक के समय का सबसे बड़ा विहार था। अशोक के

परवर्ती मौर्यशासकों के दुर्बल होने के कारण इस क्षेत्र पर शुंग वंश, नाग वंश, गुप्त, हूण आदि का शासन हो गया। लेकिन बुंदेलखण्ड में कलचुरियों और चंदेलों का प्रभाव दीर्घकाल तक रहा। कलचुरियों की दो शाखाएँ हैं–रत्नपुर के कलचुरि और त्रिपुरी के कलचुरियों का महत्व है। इन्होंने 500 वर्षों तक शासन किया जिसे सन् 1200 के आसपास देवगढ़ के राजा ने समाप्त कर दिया और फिर बुंदेलखण्ड चंदेलों के अधीन आया। जिन्होंने लम्बे समय तक यहाँ शासन किया। जिनका केन्द्र महोबा था। चंदेल काल में बुंदेलखण्ड में मूर्तिकला, वास्तुकला आदि कलाओं का विकास हुआ। आल्हा के रचयिता जगनीक चंदेलों के सैनिक सलाहकार थे। बाद में यह क्षेत्र तोमरों के अधीन आया। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने संगीत के क्षेत्र में प्रशंसनीय योगदान दिया। बाद में बुंदेल, मराठों के अधीन होने के पश्चात् इसका अंग्रेजी राज्य में विलय हुआ।

अनके शासकों और वंशों के शासन का इतिहास होने के कारण बुंदेलखण्ड की अपनी अलग ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, तात्या टोपे, नवाब बांदा आदि ने आजादी के लिए प्रशंसनीय योगदान दिया। उनके अनुयायियों में बख्तबली, मर्दनसिंह जैसे क्रांतिवीरों के नाम लिए जाते हैं।

अनेक रचनाकारों के काव्य में बुंदेली संस्कृति की अमिट छाप है। जगनिक द्वारा रचित आल्हाखण्ड बुन्देली का अपवना मौखिक प्रबन्ध काव्य है, जिसमें महोवा की चर्चा है, जो कि 12वीं शताब्दी का कला केन्द्र रहा है। बुन्देलखंड के प्रत्येक गाँव में घनघोर वर्षा के दिन आल्हा जमता है। आल्हा मौखिक परम्परा से अवश्य आया है किन्तु वह बुन्देली भूमि, संस्कृति और बोली का प्रथम महाकाव्य है। 14वीं शती में विष्णुदास द्वारा बुन्देली में महाभारत कथा और रामायण कथा लिखी गई। यह बुन्देली के प्रथम ग्रन्थ हैं। महाकवि केशव के पूर्व महाराज मधुकर शाह, पंडित शाह 'टिकैत' बुन्देलखण्ड की रक्षा में ही प्रसिद्ध हुए। कवि, देशभक्त और धर्म प्रवर के रूप में उनका स्मरण अब तक बुन्देली समाज में किया जाता है। रीतिकालीन आचार्य केशवदास ने बुन्देली गारी को अपने काव्य में स्थान दिया। भाषागत प्रयोगों से उनहें बुन्देली भाषा का प्रमुख कवि माना गया है। बुन्देलखण्ड में रामलीलाओं में केशव के संवादों का प्रयोग होता आ रहा है। छत्रसाल ने बुन्देलखंड में स्वतन्त्रता की मशाल जलाई। लाल कवि और भूषण द्वारा रचित काव्यों में बुंदेलखण्ड के राजा का इतिहास है। अक्षर अनन्य ने बुन्देली रीतिरवाज, संस्कृति, उक्तियों और मुहावरों को अपनी काव्यभाषा में अपनाकर बुन्देली संस्कृति में योगदान दिया। पद्माकर ने जगत विनोद, पद्माभरण, प्रबोधपचासा, गंगालहरी कृतियों में बुन्देली संस्कृति भाषा और जवीन दर्शन को शृंगार रस के समन्वय में प्रस्तुत किया है। मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा, सियारामशरण गुप्त, रामकुमार वर्मा, श्री अम्बिका प्रसाद 'दिव्य', केदारनाथ अग्रवाल आदि महत्वपूर्ण रचनाकारों ने बुन्देली संस्कृति को अपनी रचनाओं में आत्मसात् किया।

भौगोलिक और सांस्कृतिक विविधताओं के बावजूद बुंदेलखण्ड में जो एकता और समरसता है; उसके कारण यह क्षेत्र अपने आप में सबसे अनूठा बन पड़ता है। वर्तमान में बुंदेलखण्ड को एक भौतिक क्षेत्र घोषित किया गया है और उसकी सीमाएँ इस प्रकार निर्धारित की गई है। 'वह क्षेत्र जो उत्तर में यमुना, दक्षिण में विंध्य पलेटों की श्रेणियाँ, उत्तर–पश्चिम में चंबल और दक्षिण–पूर्व में पन्ना–अजयगढ़ श्रेणियों से घिरा हुआ है, बुंदेलखण्ड के नाम से जाना जाता है। इसमें उत्तर प्रदेश के जालौन, झांसी, ललितपुर, चित्रकूट, हमीरपुर, बाँदा ओर महोबा तथा मध्य–प्रदेश के सागर, दमोह, टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, दतिया के अलावा भिंड जिले की लहार और ग्वालियर जिले की मांडेर सतहसीलें तथा रायसेन और विदिशा जिले का कुछ भाग भी शामिल है।'[5]

बुंदेलखण्डी समाज संस्कृति और परंपरा से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। बुंदेली भूमि वीरों की भूमि है। इस भूमि ने देश को अमूल्य उपहारों से सुशोभित किया। बुंदेलखण्ड में वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश के सात एवं मध्यप्रदेश के पच्चीस जिले सम्मिलित हैं। इस धरा पर गेहूं, चना, जौ, मसूर, मटर, सरसो, अरहर, मूंग, उड़द, ज्वार, बाजरा, मक्का, चावल, कपास आदि सभी प्रकार के दलीहन, तिलहन पैदा होते हैं। तथा भाषाई दृष्टि से बुंदेली को बोलने वालों के जो आँकड़े मिलते हैं वे भी इस संस्कृति व समाज की व्यापकता व घनिष्ठता का बोध कराने में सार्थक हैं। 'इस भाषा को बोलने वालो की संख्या 8569893 है।'[6] बुंदेली भाषा में माधुर्य और लय है, जिससे इस समाज के प्रत्येक व्यक्ति में प्रेम व सौहार्द की भावना विद्यमान है।

बुंदेली समाज लोकधर्म से सिक्के के दो पहलुओं की भाँति जुड़ा हुआ है, अतः बुंदेली समाज को लोकधर्म से अलग करके देखना असंभव है। इस समाज की संस्कृति, लोक मूल्य, लोक दर्शन, लोक विश्वास, आदि में धामिकता की झलक मिलती है, जो धार्मिक ग्रंथों के आधार पर ही निर्मित हैं। यहाँ पर वैष्णव, शैव, शाक्त सभी मतों के अनुआयी मिल–जुल कर रहते हैं ओर वह एक–दूसरे का हृदय से सममान भी करते हैं। आज भी बुंदेली समाज में 'रामायण' का पाँच वर्षों तक अखण्ड पाठ होता है जिसे कि पंडितों के विशेष समूह द्वारा ही नहीं वरन् गाँव का कोई भी व्यक्ति जाकर उसका पाठ करता है और यह पाठ पूरे पाँच वर्षों तक चलता है। आज भी इसका पाठ रात–दिन जारी है। यह अखंड पाठ बुंदेली समाज की एकता व भाईचारे का परिचायक है।

धार्मिकता का आधिक्य होने से यहाँ नदी, तालाब, पेड़–पौधे, चबूतरा, लोक देवता, ग्राम देवता, सती चौरा, तुलसी यहाँ तक की कूड़ा डालने का सथान (घूरे) तक की पूजा की जाती है। 'घूरे' पर भी लोग तीज त्यौहारों के दिन पूजने जाते हैं। छोटे–छोटे त्योहारों पर भी यहाँ के जनमानस पर खुशी का उल्लास देखने को मिलता है। नव वर्ष के शुभारंभ पर देवी की पूजा अत्यधिक हार्दिक प्रेम व तन्मयता के साथ की जाती है। तुलसी घर के आँगन की शोभा होती है।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन यहाँ की स्त्रियाँ उपवास रखती हैं और तुलसी माता की उपासना करती है। बुंदेली समाज में ऐसी मान्यता है कि तुलसी की अनुपस्थिति में शालिग्राम भगवान भोग नहीं लगाते, इसलिए बुंदेली स्त्रियाँ गा उठती हैं–

'तुलसा महारानी नवो नवो।

इन तुलसा ने कौन तप कीने, शालिग्राम भई पटरानी नवो नवो। तुलसा महानी नवो नवो।

साखा पत्र मंजरी कोमल, पुष्पन की बरसा बरसानी नवो नवो। तुलसा महारानी नवो नवो।

छप्पन भोग छत्तीसों व्यंजन, बिन तुलसा हरि एक न मानी। तुलसा महारानी नवो नवो।'[7]

इसी तरह नवरात्री के समय भी यहाँ के लोगों में विशेष उत्साह रहता है। इस अवसर पर सभी लोग अपने घरों को गऊ गोबर से लीपकर तथा मिट्टी से पोतकर शुद्ध करते हैं। इस दिन स्त्री व पुरुष दोनों ही व्रत रखते हैं व मण्डप सजाकर माँ की स्तुति आराधना करते हैं। जिन घरों में इन दिनों जवारे बोए जाते हैं उस घर के लोग कुम्हार के बनाए हुए घड़े लोकर उन्हें बीच से तोड़कर 'खप्पर' का स्वरूप देते हैं व उनमें नौ दिनों तक जवारे बोते हैं, इसी प्रकार 'घट' में भी जवारे बोए जाते हैं, यह घट एक घड़े के ऊपर दूसरा घड़ा व दोनों घड़ों के बीचों–बीच दो मिट्टी की परात जैसी आकृति बनाई जाती हैं जिसमें चारों ओर जवारे बो दिए जाते हैं, इसमें दो घड़ों का होना सुंदरता का परिचायक है। यद्यपि उनकी जवारों में कोई उपयोगिता नहीं है, मात्र वे स्त्रियों के सिरों पर रखने में अपनी सहायता देते हैं। इन खप्परों और घटों में मिट्टी लेने संध्या के समय स्त्री व पुरुष सज–धज कर गीत गाते हुए जाते हैं–'सांझ समय मैया चलो है भँवरवा, मालिन चली आधी रात हो माय।' मिट्टी को घड़ों में भरकर गणेश कलश स्थापित किया जाता है तथा देवी की प्रतिमा या चित्र को स्थापित कर वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ घटों में जौ बोये जाते हैं जिन्हें जवारे कहा जाता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बुंदेली लोक में मुख्यतः दो ही फसलें पैदा की जाती है– रबी और खरीफ। इन नौ दिनों तक देवी के मन्दिर में लगातार दीप जलता रहता है व सुबह, शाम पूजा–आरती व भोग का प्रबंध किया जाता है।

डॉ. भागीरथ मिश्र के अनुसार 'इस लोक काव्य में जहाँ एक ओर वीरता और राष्ट्रीयता है वहीं दूसरी ओर शृंगार, प्रेम, प्रकृति, ऋतु से संबंध रखने वाले गीत प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अपने क्षेत्रीय आघातों और लयों को लेकर प्रायः इन गीतों की भावनाओं का प्रचार सारे बुंदेली क्षेत्र पर है इतना ही नहीं, कुछ इन गीतों के संस्कार बघेली, छत्तीसगढ़ी, मालवी और ब्रज के लोक काव्य में भी देखे जा सकते हैं।'[8] बुंदेली लोकगीत अपनी मार्दव स्वर लहरियों और लायात्मक धुनों के आरोह–अवरोह तथा रंजक राग–रागनियों के लिए प्रसिद्ध हैं।

भारतीय समाज में परम्परागत सोलह संस्कारों की मनुष्य जीवन में अनिवार्यता स्वीकार की गई है। यज्ञ अनुष्ठान भी संस्कार आधारित विधान है।

यज्ञ संस्कार परम पवित्र है जो प्राचीन काल में प्रजापति के साथ ही उत्पन्न हुआ माना गया। यज्ञ करने से मनुष्य को तेज व बल मिलता है। बुंदेलखण्ड में यज्ञोपवित संस्कार को 'बरुआ' कहा जाता है। यहाँ यज्ञ की तैयारी विवाह के समान ही की जाती है। इसमें बरुआ को तेल–उपटन के पश्चात जनेऊ पहनाया जाता है और सभी विधि–विधान के पश्चात् वह अपने परिवारक` बड़े–बूढ़ों आदि से भिक्षा मांगता है। भिक्षा मांगकर वह रूठकर मंदिर मे `चला जाता है, उसे वहाँ से उसकी बहन, बुआ मनाकर घर लेकर आती है, वे गाती हैं कि–

'जनेऊ आज पैरत दशरथ के लाल, दशरथघर मोद बढ़ै।
तीन तगा में बिरमा बांधे, दशरथ घर मोद बढ़ै।
बिस्नू बांधे विस्व करतार, दशरथ घर मोद बढ़ै।
जनेऊ आज पैरत दशरथ के लाल, दश्रथ घर मोद बढ़ै।'[9]

बुंदेली समाज अपनी परंपराओं में जीवित है इसलिए यहाँ के वैवाहिक विधि–विधान परम्परागत हैं। विवाह का कार्यक्रम बहुत लम्बा चलता है। इसमें वर ढूंढ़ने से लेकर विदा तक के अनेक मांगलिक कार्यक्रम होते हैं। बुंदेलखण्ड में इन सभी कार्यक्रमों से संबंधित अवसर पर प्रसंगानुकूल लोकगीत स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं। लगुन के दिन से ही दोनों परिवारों में बन्ना–बन्नी के गीत गाने शुरू हो जाते हैं। शुभ मुहूर्त पर हल्दी–तेल का विधि–विधान होता है, गांव–घर की पाँच सात कन्याएँ लड़के–लड़की की पीढ़े पर बिठाकर तेल–हल्दी चढ़ाती हैं। तथा गाती हैं–

'कौना ने तेलो चढ़ाव को राये बैंह दुलिया।
बहनी ने तेलो चढ़ाव जीजा, राये बैंह दुलिया।
चढ़ गव तेल फुलेल छुटक रहीं पांखुरियाँ।
को ल्याव तेल फुलेल को ल्याव पांखुरियाँ।
तेलन ल्याई तेल फुलेल तेलिन ल्याई पांखुरियाँ।
भाभी ने तेला चढ़ाय बीरन राये बैंह दुलिया।'[10]

तेल–हल्दी के पश्चात् ये अपने पूजनीय परम्परागत कुलदेवता, ग्राम देवता, देवी–देवताओं को विवाह के कुशल मंगल के लिए आमंत्रित करते हैं। लाला हरदौल को विवाह के अवसर पर निमंत्रित करना इनकी अपनी विशेष परंपरा है। लाला हरदौल विवाह समारोह के श्रेष्ठ रक्षक होते हैं, ऐसा बुंदेली लोक विश्वास है। लाला हरदौल को आमंत्रित करती हुई स्त्रियाँ गाती है–

'हरदौल लाला मोरी कही मान लियो हो हरदौल लाला।
कहूँ भूल परै कहूँ चूका परै तो संभाल लियो हो हरदौल लाला।
माथे हो सैरो हरदौल जू के सोहें,
कलियों की लटकन संभाल लियो हो हरदौल लाला।
कानों को कुंडल हरदौल जू के साहें,
झुमको की लटकन संभाल लियो हो हरदौल लाला।'[11]

हरदौल जी के निमंत्रण के पश्चात् ही विवाह की अन्य विधियां शुरू कर दी जाती हैं। जनवासे से बारात लाव–लस्कर, हाथी–घोड़े, गाजे–बाजे के साथ

लड़की के दरवाजे पर पहुँचती है। लड़की वालों की ओर से बारात का भव्य स्वागत सत्कार किया जाता है तथा द्वार पर वर की पूजा की जाती है और इसके पश्चात् चढ़ावे का कार्यक्रम आरंभ होता है। वर पक्ष के द्वारा कन्या को सोने–चाँदी के जेवर, कपड़े आदि दिए जाते हैं जिसे पहनकर वह मण्डप में बैठती है। बुंदेलखण्ड में कहीं–कहीं भावंर के समय मृत्यु के बाजे बजाए जाते हैं। इसका कारण यह है कि लाड–प्यार से पाली गई पुत्री आज पराई हो जाती है। अतः भांवर का गीत बहुत ही कारुणिक तथा भावपूर्ण होता है। इसका प्रभाव लोगो की आंखों में झलक पड़ता है–

'पहली भांवर जब फेरियो बेटी अबलौं हमारी।
दूजी भांवर जब फेरियो बेटी अबलौं हमारी।
सातई भांवर जब फेरियो बेटी तब हो गई पराई।'[12]

इसी प्रकार पांव पखराई, पंगत, कुंवर कलेवा, बारात विदाई, कंकन छोड़ना, आदि कार्यक्रम होते हैं। दुल्हन के ससुराल आगमन के पश्चात् उसे गाँव के सभी मन्दिरों पर स्त्रियों का समूह गाते–बजाते ईश्वर आशीर्वाद के लिए ले जाता है, जहाँ दुल्हा–दुल्हन अपनी हाथेलियों को हल्दी के लेप में डुबोकर मन्दिर की दीवारों पर छाप देते हैं। इस अवसर पर दुल्हा अपना दायाँ हाथ व दुल्हन दोनों हाथों से दो बार छाप लगाती है, इस छाप को या इस अवसर को बुंदेली समाज में 'हाथे लगना' कहा जाता है। इन अवसरों पर स्त्रियां हास–परिहास युक्त गीत गाती हैं।

भारत षट् ऋतुओं का देश है। इन छः ऋतुओं का समाहार वर्षा, शरद तथा ग्रीष्म के अन्तर्गत हो जाता है। प्रत्येक ऋतु अपनी सौंदर्यता के साथ धरती पर उतरती है। लोक गीतों में ऋतुओं का भी विशेष स्थान है। बुंदेलखण्ड के ऋतु संबंधी गीतों के बारे में कहा गया है कि 'बुंदेलखण्ड के लोकगीत जाग्रत जनता के प्रतीक हैं। इन गीतों पर खेतों खलिहानों की अमिट छाप है। इसमें जन्म भूमि की गौरवशाली और यशस्वी आत्मा की पुकार अभिव्यक्त हुई है इसमें गति भी है, तीव्रता भी और मर्म को छू सकने की शक्ति भी कला और जन–जीवन का संबंध धरती के गीतों की विशेष पहचान है।'[13] अतः जिस प्रकार से इस समाज में विवाह, धर्म व त्योहारों से संबंधित गीतों का वर्चस्व है उसी प्रकार से यह समाज ऋतुपरक गीतों में भी कुछ कम नहीं हैं बुंदेली समाज में प्रत्येक ऋतु का स्वागत–सत्कार गीतों के माध्यम से किया जाता है। वर्षा ऋतु सबसे प्रिय ऋतु होती है, इस ऋतु के आगमन पर अमराइयों में झूला पड़ जाता है तथा झूला झूलती स्त्रियां गा उठती हैं–

हरे रामा उठी घट घनघोर, बदरियाकारी रे हारी।
कौन दिशा बदरा भये कोन बरस गए मेह, बदरिया कारी रे हारी।
अग्गम दिशा बदला भये पच्छम बरस गये मेह, बदरिया कारी रे हारी।'[14]

बरसात के मौसम के पश्चात् शरद ऋतु का आगमन होता है। इसी समय मकर संक्राति का त्योहार भी आता है। ग्रामीण जन डुबकी लगाने के लिए नदी,

तालाब, जलाशयों एवं धार्मिक स्थलों पर जाते हैं। रास्ते की थकान मिटाने के लिए ये लोक गीत गाते हैं। इन गीतों को भोला की गी, बंबुलियां, रमटेरा अथवा 'टिपपे' कहा जाता है। ये गीत धार्मिक भावना से ओतप्रोत होते हैं–

'निकर बन अरे जोगी तो भये रे, जोगी तो भये रे कौसल्या के लक्षमन राम रे।
निकर वन हो, सपरवें को कासी जू बना दई कासी जू बना दई दरसन को।
बना दये भोला नाथ रे। सपरवें को हो.....'[15]

इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु पूरे ताप के साथ धरती पर उतरती है। इस ऋतु का स्वागत भी बुंदेली समाज में पूरे भाव के साथ किया जाता है। जब सूर्य देव अपने प्रचंड ताप पर होते हैं। तब बुंदेली गीतों के बोल होते हैं– 'जोवन ते जब रूप के गाहक ते सिंसार।' इस प्रकार से बुंदेली समाज में प्रत्येयक ऋतु का स्वागत माधुर्य व सौंदर्य युक्त गीतों के गायन द्वारा किया जाता है। यह समाज ऋतु के समय 'अक्ती' किया जाता है। यह आयोजन तीज और चौथ के दिन मनाया जाता है। कुम्हार से लोग अपने–अपने घरों मे पाँच घड़े लाकर उनमें दो–दो चने के दाने व जल भरकर रख देते हैं। इन पाँचों घड़ों पर आषाढ़, सावन, भादों, कुँवार, कातिक एक–एक माह का नाम लिख कर पूजा स्थान पर रख दिया जाता है। इनकी मानयता है कि जिस घड़े के चने सबसे ज्यादा फूलेंगे उस माह में वर्षा ऋतु ज्यादा व फसल अच्छी होगी।

बुंदेली समाज में युवक–युवतियों व बच्चों के भी अपने खेल हैं, जो गीत–संगीत समृद्ध हैं। युवकों द्वारा 'टेसू' नामक खेल कुँवार माह के आरंभ में पंद्रह दिनों तक संध्या समय खेला जाता है। युवकों की टोली लकड़ी के एक छोटे से घर में मिट्टी का पुतला (टेसू) व दीप रख प्रत्येक दिन गांव भर के लोगों से दान लेते गीत गाते हैं–

'टेसू राजा हैंई खड़े
खाँवें को मांगे दई बड़े
दई बड़े की चाट है, पइसन की हाट है
पइसा अच्छो होतो तो चक्की लगवाते
चक्की अच्छी होती तो आटा पिसवाते
आटा अच्छी होती तो सास को खिलाते
सास अच्छीं होंती तो घोड़ी पै बिठाते
हिंकुड़ी भई हिंकुड़ी
हिंकुड़ी को पईया
टेसू माँगे रुपइया।'

यही गीत युवक पंद्रह दिनों तक गाते हुए दान मांगते हैं, इसी दान से पकवान बनाकर टेसू की पूजा करते हैं व उसे खेत के बीच में रख आते हैं। इस खेल के पीछे इस समाज की यह मान्यता है कि टेसू खेतों की रखवाली करेगा व बुरी दृष्टि से बचाएगा।

इसी प्रकार 'सुआटा' नामक खेल अवैवाहिक युवतियों द्वारा खेला जाता है। इस खेल के संबंध में मान्यता है कि प्राचीन समय मये एक दुष्ट राक्षस था जो अवैवाहिक युवतियों को उठा ले जाता था, इसलिए यह खेल खेलते समय युवतियाँ सूर्य के सम्मुख की दीवार पर एक राक्षस (सुआटा) का चित्र, व चित्र के ऊपर आधे चंद्रमा की आकृति बनाकर कुँवार माह में नवरात्री के अवसर पर प्रातः काल के समय इन चित्रों पर फूल से दूध के छींटे देती हुए गान करती हैं–

'हिमांचल की कुंवर लड़ाँएती नारे सुआटा
गौरा बेटी न्यौरा त्यौरा नइयो बेटी नौ दिना नारे सुआटा
दसारे दिन करियो शृंगार नारे सुआटा।'

नौ दिनों तक युवतियाँ प्रातः गऊ गोबर से चबूतरे को लीपा करती हैं व उस पर प्रातः समय में ही मिट्टी के रंगों से रंगोलियां बनाती हैं। रंगोलियाँ बनाते समय वे गाती हैं–

'सूरज जी से भइया लीवावन जैं हैं, पठावन जैं हैं
नीले से घोड़ा नचावत जैं हैं।'

आठ दिनों तक युवतियों द्वारा इस तरह खेल को खेलने के पश्चात् आठवें दिन की शाम को युवतियां एक घड़ा लेकर मुहल्ला पड़ोस से दान मांगते हुए गीत गाती हैं–

'पौरन बैठे भइया पौरुवा नारे सुआटा
खिड़किन बैठे कुतवाल नार सुआटा
तुम जिन जानो भाभी मांगनी
बिटियां देती आशीष नारे सुआटा।'

भारत में विभिन्न संस्कृतियों का आधिपत्य है। यहाँ सभी संस्कृतियों की अपनी–अपनी विशेषताएँ हैं। यह देश फूलों का ऐसा गुलदस्ता है जिसमें हर बाग का फूल है। सभी लोग एक साथ मिल–जुलकर रहते हैं। बुंदेली संस्कृति में भाईचारे की भावना, प्रेम, एकता और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा है जो कि यहाँ के गीतों में भी देखने को मिलती है। लोकगीतों में बुंदेली समाज के संस्कारों, मान्यताओं, तीज त्योहारों व जीवन के प्रत्येक पहलू से जुड़े भाव प्रकट होते हैं। आधुनिक समय में भारतीय संस्कृति का बजूद शिथिल होता जा रहा है जिसके कारण आधुनिक जीवन मात्र मशीनी जीवन सा हो गया है। आज व्यक्ति के आपसी संबंधों में कटुता, खीझपन का समावेश बढ़ता जा रहा है। इन संबंधों को मधुर बनाने में लोकगीत सहायक सिद्ध होंगे क्योंकि लोकगीत भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं। इस आधार पर कह सकते हैं कि संस्कृति समाज का दर्पण होती है और लोकगीत संस्कृति का दर्पण। अतः विभिन्न संदर्भों व तर्कों के आधार पर बुन्देली संस्कृति के दर्पण बुन्देली लोकगीत कहे जा सकते हैं।

संदर्भ

1. भारतीय लोक संगीत, लेख–लोकसंगीत का शास्त्रीय संगीत पर प्रभाव, डॉ. शोभा कंचन, पृ–50
2. वही, लेख–लोक संगीत में अवनद्य वाद्यों द्वारा लय एवंताल का संयोजन, डॉ. शर्मिला टेलर, पृ.–69
3. हिन्दी कविताः इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में (12वीं शताब्दी) प्रथम खण्ड, जमीला आली जाफरी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–1975, पृ–7
4. मुस्लिम भक्त कवियों का सांस्कृतिक समन्वय, संपादक–डॉ. सुरेश आचार्य, लेख–मुस्लिम भक्त कवियों की सांस्कृतिक समन्वय–प्रक्रिया और प्रासंगिकता–डॉ. राजेन्द्र यादव, सत्येन्द्र प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2000, पृ. –104
5. https://hi.wikipedia.org/wiki/बुंदेलखण्ड
6. बुंदेली लोक साहित्य–डॉ. रामस्वरूप स्नेही, रंजन प्रकाशन–आगरा, संस्करण–1976, पृ.–22
7. बुंदेली लोक काव्य भाषा, बीभद्र तिवारी, बुंदेली पीठ, हिन्दी विभाग–सागर, पृ.–49
8. भारतीय लोक साहित्य–डॉ. श्याम परमार, राजकमल प्रकाशन–बम्बई, पृ.–53
9. बुंदेली लोक काव्य भाषा, बलभद्र तिवारी, बुंदेली पीठ, हिन्दी विभाग–सागर, पृ.–42
10. बुंदेलखण्ड के लोक गीत, डॉ. उमाशंकर शुक्ल, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण–2010, पृ.–98
11. वही , पृष्ठ–102
12. बुंदेलखण्ड लोक काव्य भाषा, बलभद्र तिवारी, बुंदेली पीठ, हिन्दी विभाग–सागर, पृ.–46
13. बुंदेलखण्ड के लोक गीत, डॉ. उमाशंकर शुक्ल, इंण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण–2010, पृ.–36
14. बुंदेली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, मोतीलाल चौरसिया, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, संस्करण–1989, पृ.–61
15. वही, पृ.–65
16. संगीत, मासिक पत्रिका, संपादक–लक्ष्मीनारायण गर्ग, अप्रैल 1958, हाथरस, पृ.–36

■

दर्शनशास्त्र

भारतीय नास्तिक दर्शन की पृष्ठभूमि एवं विकास

डॉ. रूपेश कुमार सिंह

भारतीय संस्कृति प्राचीन है। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में यह अगग्रण्य है। ई. पू. 2000 के भी पहले से भारतीय दर्शन में प्राचीनतम संस्कृति जीवित हैं। इतिहासकारों के अनुसार यह ईसा के जन्म के कोई दो हजार साल पहले आरम्भ हुई। बताया जाता है कि एक आर्य जाति थी, जो कहीं मध्य एशिया में रहती थी। इस ने जीवन के लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियों की खोज में इधर–उधर भटकना आरम्भ किया। यह जाति प्राचीन भारत के उस स्थान पर पहुँची जो आजकल पश्चिमी पाकिस्तान कहलाता है। आर्य वहाँ बस गये और उन्होंने अपने को संगठित करना आरम्भ किया। संगठन के इस कार्य में उनको इस देश के मूल निवासियों से लड़ना पड़ा। अन्त में आर्य विजयी हुए और उन्होंने इन लोगों को अपनी सामाजिक व्यवस्था का अंग बना लिया। किंतु कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि आर्य लोग बाहर से नहीं आये थे। वे मूलतः भारत के निवासी थे। किन्तु हमारे पास कोई ऐसी विश्वसनीय ऐतिहासिक सामग्री नहीं हैं जिसके आधार पर इस बात का अन्तिम रूप से निर्णय किया जा सके कि आर्य बाहर से आये थे या वे मूलरूप से भारत के ही निवासी थे।[1]

आर्य मेहनतकश लोग थे। उनकी सामाजिक संरचना सुव्यवस्थित था और कार्य–विभाजन के सिद्धान्त में उनका विश्वास था। इन्हीं लोगों को समाज की नैतिक, धार्मिक तथा बौद्धिक प्रगति का श्रेय है। कुछ आर्य द्रष्टा या ऋषि भी कहलाते थे। वे साधनामय जीवन व्यतीत करते थे और उनका मुख्य कार्य लोगों को शिक्षित करना था। वे कई कलाओं तथा दस्तकारियों में निपुण थे। आर्य युद्ध विद्या से भी परिचित थे और उनमें से कुछ मौलिक चिन्तक थे। कुछ दूसरे लोग थे जिनका कार्य समाज की सुरक्षा तथा भौतिक प्रगति करना था। इस श्रेणी के लोग आत्मरक्षा में तथा नयी विजयों के लिए लड़ते थे। ये योद्धा थे। आर्य जाति का एक तीसरा भाग था जो व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग के लिए जिम्मेदार था तथा चौथे भाग में वे लोग थे जो सम्पूर्ण समाज की सुविधा के लिए जिम्मेदार थे।[2]

संपर्क – शोधप्रज्ञ (दर्शनशास्त्र), ग्राम+पोस्ट – धोबौली, जिला – वैशाली – 844502 (बिहार), चलभाष : 9334708197, मो.– 9334292457, Email :- rupesh.singh649@gmail.com

समाज के ये चारों अंग मिलकर अपने कर्म विभाजन से एक संगठित संघ बनाते थे। समाज की एकता का मुख्य कारण एक पुरोहित का शक्तिशाली मार्ग–दर्शन माना जाता था। यह पुरोहित पहली श्रेणी में से होते थे। यह व्यवहार के कुछ नियम बनाते थे और समाज के प्रत्येक मनुष्य के लिए उनका पालन करना अनिवार्य होता था। पुरोहितों या ऋषियों की इसी श्रेणी के विषय में यहाँ हम अधिक कहेंगे, क्योंकि इन्हीं लोगों ने उस दर्शन का निर्माण किया जो आजकल वैदिक दर्शन कहलाता है। वेद मुख्यतः ब्राह्मण दर्शन ही है, जो समाज को नियंत्रित करते रहे। ये पुरोहित नदियों के किनारे या वनों में रहते थे। वैदिक दृष्टि से ये प्रतिभाशाली थे तथा आध्यात्मिक रूचि के थे। वे प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करते थे। उन्होंने देखा कि सूर्य का प्रतिदिन उदय होता है और सूर्योदय के पूर्व रंगमय प्रभात पूरे संसार पर छा जाता है। उन्होंने यह अनुभव किया कि जल, अग्नि, वायु, विद्युत, वर्षा, सूर्य इत्यादि जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इनके बिना मनुष्य पृथ्वी पर सुविधापूर्वक नहीं रह सकते हैं। उन्होंने इन प्राकृतिक तत्वों को व्यक्तित्व प्रदान किया और मनुष्यों को सुविधाएँ देने के लिए इनकी स्तुति की। किन्तु इन ऋषियों ने यह भी अनुभव किया कि यदि बहुत अधिक वर्षा या गर्मी हो जाये तो मनुष्य को असुविधा होती है। इसलिए वे इन प्राकृतिक शक्तियों से भयभीत भी थे। इस प्रकार इन प्राकृतिक शक्तियों ने देवताओं का रूप धारण किया। इनकी स्तुति इसलिए की जाती थी कि समाज को इनके रोष से हानि न हो।[3] कहते हैं, यह मनुष्य की सबसे सुदंर कल्पना सृजित की गई।

देवताओं की प्रशंसाएँ तथा उनकी स्तुतियाँ एक पुस्तक में संग्रहित हैं। यह पुस्तक ऋग्वेद कहलाती है। ऋग्वेद में कुछ ऐसी काव्य–कृतियाँ हैं जिनको विश्व–साहित्य में किसी भी समय रखी गयी सर्वोत्तम रचनाओं में गिना जा सकता है। 'ऋत्' शब्द का अर्थ है ऐसे गीत जो देवाताओं की प्रशंसा में गाये गये हों तथा वेद का अर्थ है ज्ञान। इस तरह ऋग्वेद ज्ञान तथा बुद्धिमत्ता की पुस्तक माना जाता है।[4]

जो साहित्य हमें उपलब्ध हैं, उसमें ऋग्वेद प्राचीनतम है। जैसा कि सर्वत्र उल्लेख मिलता है, इसमें ऋषियों द्वारा देवताओं की स्तुति में गाये गये गीत हैं। इस प्रकार इस वेद के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त को बहुदेववाद कहा जा सकता है। उस काल में जितने प्रत्यक्ष देव, सूर्य, अग्नि, आदि थे, उनकी स्तुति के गान ऋग्वेद में है। किन्तु यहाँ दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। आर्य ऋषि निरीक्षण–परीक्षण में बहुत सावधान थे और इन्होंने शीघ्र ही ऐसा अनुभव किया कि कोई ऐसा नियम या क्रम अवश्य है जिसका कि देवता भी पालन करते हैं। उदाहरण के लिए सूर्य प्रतिदिन एक निश्चित समय पर पूर्व में उदित होता है। वर्षा ऋतु का आगमन भी वर्ष में एक निश्चित समय पर ही होता है। जल अपने नियमानुसार नीचे की ओर बहता है तथा अग्नि के जलने का अपना नियम है। ये सभी किसी न किसी अदृश्य शक्ति से अपनी सत्ता का संचालन करते है, जिससे धरा के जीवों का पोषण होता है। यद्यपि ये देवता अपने–अपने क्षेत्र में पर्याप्त

शक्तिशाली है, फिर भी उनको अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं है। वे नियमबद्ध हैं। ऋषियों ने कल्पना की कि जिस प्रकार देवता कुछ नियमों से बंधे हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी कुछ नियमों से बद्ध होंगे। जब तक मनुष्य इन नियमों का पालन करते हैं वे कुशलता से रहते हैं, प्रगति करते हैं तथा देवता भी इनसे संतुष्ट रहते हैं। किन्तु जब वे नियमों की सीमा का उल्लंघन करते हैं, दूसरे शब्दों में जब वे नियमों का पालन नहीं करते, देवता उन्हें दण्ड देते हैं। आर्य ऋषियों ने यह भी अनुभव किया कि प्रकृति को चलाने वाला तथा मनुष्य के व्यवहार को अनुशासित करने वाला नियम एक ही है। ये सभी उसी अदृश्य नियम से काम करते हैं। प्रकृति में प्रत्येक क्रिया की कुछ प्रतिक्रिया होती है। यदि उंगली आग में डाली जायेगी तो वह जलेगी। यदि कोई भारी वस्तु जल में डाली जायेगी तो वह डूब जायेगी। ऋषियों ने सोचा कि ठीक इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अच्छा कार्य करता है तो उसे इसका पुरस्कार अवश्य मिलेगा। किन्तु यदि वह कोई ऐसा कार्य करता है जो त्रुटिपूर्ण हो तो उसे अपने ऐसे कर्मों का दण्ड भी अवश्य मिलेगा। यह पुरस्कार या दण्ड स्वतः प्राप्त होता है तथा जल के देवता वरूण को प्रकृति के नियमों का तथा मनुष्य के नियमों का जो कि ऋतु कहलाते हैं, संरक्षक माना जाता है।[5]

उपनिषदों को वेदों का अन्तिम भाग माना जाता है। उनमें वैदिक शिक्षाओं का सार संचय है। इसलिए उनको वेदान्त या वेदों का अन्त कहा जाता है। वेदों का अंत से आशय उसके सार दर्शन के उपस्थापन से है। उपनिषदों के महत्त्व का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि वेदों पर आधारित भारतीय दर्शन का प्रत्येक अंग विचारों तथा सिद्धान्तों का सम्बन्ध इनसे जोड़ने का प्रयत्न करता है। एक पाश्चात्य विद्वान, प्रो. ब्लूम–फील्ड, तो यहाँ तक कहते हैं कि ''नास्तिक बौद्ध दर्शन सभेद भारतीय विचारधारा का कोई महत्त्वपूर्ण रूप ऐसा नहीं जो उपनिषदों पर आधारित न हो'' अनन्तर बुद्ध ने भी अपनी दार्शनिक विचार धारा बनाते समय उपनिषदों के कुछ विचारों को माना है। उपनिषदों के दार्शनिक विचारों ने वेद की चर्चाओं को शास्त्रीय आधार दिया, जिससे उसकी गरिमा और महिमा दोनों बढ़ी।

इन उपनिषदों में चर्चा का मुख्य विषय मनुष्य हैं। वास्तव में मनुष्य कौन है? क्या यह शरीर है? या इन्द्रियाँ या चित्त या प्राण या कुछ और। शरीर इन्द्रियाँ, मन और प्राण मनुष्य नहीं हो सकते क्योंकि इनके बिना भी कार्य चल सकता है। उदाहरण के लिए कोई मनुष्य, जब कि उसका शरीर विस्तर पर आराम कर रहा है और इन्द्रियाँ भी कार्य नहीं कर रही हैं, कुछ अनुभव प्राप्त कर सकता है। मन के कार्य न करने पर भी मनुष्य को अनुभूति हो सकती है। उदाहरणतया गहरी निद्रा में मनुष्य को कुछ–न–कुछ स्वानुभूति होती है। इसी से जब वह निद्रा से जागता है तो कहता है कि उसे निर्विघ्न निद्रा आयी। इसलिए मनुष्य वही हैं, जिसमें जागृति या अनुभूति है। हम ऐसे मनुष्य की कल्पना ही नहीं कर सकते

जिसमें अनुभूति न हो, क्योंकि अनुभूति की न्यूनता में शरीर को हम मृत मानते हैं। अनुभूति या आत्मा ही वास्तविक जीव है। शरीर का सौंदर्य जीव है जो प्राण तत्त्व से संचालित होता है।

आत्मा के कारण ही संसार में कुछ अर्थवत्ता दिखायी देती है। ज्ञाता, आत्मा किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करती है। किसी ज्ञाता की अनुपस्थिति में क्या इस संसार का कोई अर्थ होगा। हम यह भी नहीं कह सकते कि संसार उस समय विद्यमान होगा। क्योंकि इस कथन का कि संसार किसी ज्ञाता के बिना भी विद्यमान है, तात्पर्य यह है कि कम–से–कम एक ज्ञाता अवश्य विद्यमान है जो कि संसार के अस्तित्व को जानता है। इस संसार में पायी जाने वाली प्रत्येक वस्तु यहाँ तक कि स्वयं संसार के अस्तित्व के विषय में सन्देह किया जा सकता है। भारतीय दर्शन में एतद् संबंधी सारा चिंतन ही आत्मा के चतुर्दिक मंथन करता है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त की भांति उपनिषदों में भी कहा गया है कि इस प्रकार का सन्देह, जब तक है वह आत्मा विरोधी नहीं होता, पूर्णतया तर्कसम्मत है। यह आत्म–विरोधी तभी होता है जब मनुष्य अपने ही अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह करना प्रारम्भ कर देता है। सन्देह करने वाले मनुष्य के विषय में सन्देह किया ही नहीं जा सकता। यदि उसके अस्तित्व के विषय में भी सन्देह किया जाता है तो इससे उसका अस्तित्व और अधिक प्रमाणित होता है। इसलिए उपनिषदों के लिए आत्मा आधारभूत तथा सबसे प्रमुख वास्तविकता या सत्य है।[10] आत्मा की सत्ता ही उपनिषद् के चिंतन का मूल है, ऐसा कहा जा सकता है।

दर्शन यदि तर्क का जाल है, तो इस जीवन–मरण के चक्र में आत्मा अपने कर्मों के कारण बद्ध है। परन्तु यदि वह कोई भी कर्म न करें तो जीवन–मरण के कष्टमय चक्र से स्वतंत्र हो जायेगी। यही अन्तिम स्वतंत्रता प्रत्येक जीव की होनी चाहिए। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति कैसे की जाये? यह अपनी आत्मा तथा ब्रह्म के ठीक स्वरूप को जानने से प्राप्त होगा। ज्ञान जीवन–मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अधिक प्रभावशाली साधन है।[6] जीव और कर्म एक–दूसरे के सापेक्ष है, तो मुक्ति की अवधारणा इसका आप्तकाय है। ऋत् ने कर्म सिद्धान्त के रूप में एक ठोस आकार ग्रहण कर लिया है। ब्रह्म के विचार का जो कि बीज रूप में पाया गया था, एक पूर्ण सिद्धान्त के रूप में विकास किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सर्वोच्च सत्ता है। त्याग की भावना का अन्तिम परिणाम होगी निष्क्रियता। यह तभी संभव है जब कोई मनुष्य–जीवन छोड़कर वन में जा बसे। उपनिषदों में मानव जीवन के उद्देश्य का प्रतिपादन किया गया है। उसका अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति से है अर्थात् जीवन–मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाना।

भारतीय दर्शन के दो प्रमुख तथा प्राचीन वर्ग हैं: आस्तिक वर्ग और नास्तिक वर्ग। पहला आस्तिक मान्यताओं को मानने वालों का वर्ग है तथा दूसरा नास्तिक मान्यताओं को स्वीकार करने वालों का वर्ग है। आस्तिक उसे कहा जाता है जो वेद की जीवन पद्धति एवं उसकी प्रामाणिकता में विश्वास करता है और नास्तिक

उसे कहा जा सकता है जो वेद को प्रमाण नहीं मानता अर्थात् उसकी जीवन पद्धति में विश्वास नहीं करता है। इस प्रकार आस्तिक का अर्थ है 'वेद का अनुयायी' और नास्तिक का अर्थ है 'वेद का विरोधी'। अतः इनका विशेष अर्थ है, साधारण नहीं। किसी की अनुशासन में विशेष अर्थ का ध्वन्यर्थ है, उसके तत्त्व की पारिभाषिकी को स्थिर करना। यहां नास्तिक आस्तिक की पारिभाषिकी का संदर्भगत अर्थ–व्यंजना भी यही है। साधारणतः 'आस्तिक' के दो अर्थ है। पहला व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ और दूसरा परम्परा गम्य अर्थ। व्युत्पत्ति के अनुसार आस्तिक वही है जिसकी परलोक और पुनर्जन्म में आस्था हो। तात्पर्य यह है कि जिसे यह विश्वास है कि परलोक (स्वर्ग, नरक आदि) की सत्ता है और पुनर्जन्म (जन्मान्तर) का अस्तित्व है, वह आस्तिक है। इसका अभिप्राय ये भी है कि परलोक और पुनर्जन्म को जो नहीं स्वीकार करता वह नास्तिक है। इस अर्थ को स्वीकार करने में पहली कठिनाई यह है कि बौद्ध और जैन दार्शनिक पुनर्जन्म को मानते हुए भी नास्तिक कहलाते हैं। दूसरा अर्थ परम्परा–गम्य है। परम्परा से हम ईश्वर में आस्था (विश्वास) रखने वालों को आस्तिक और अनास्था (अविश्वास) रखने वालों को नास्तिक मानते हैं। परन्तु इसमें भी एक कठिनाई है। ईश्वर में विश्वास न रखने वाला मीमांसा दर्शन परम आस्तिक माना जाता है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता, परन्तु आस्तिक दर्शन है। यहाँ परस्पर भेदभेद के विपर्यय से आस्तिक–नास्तिक की व्याख्या बदल जाती है। अतः इससे स्पष्ट है कि साधारण दृष्टि से आस्तिक–नास्तिक के दोनों अर्थ दार्शनिक दृष्टि से नहीं माना जा सकता है। दार्शनिक दृष्टि से आस्तिक–नास्तिक का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ है।[7] इस दृष्टि से वेदों में विश्वास करने वाला आस्तिक है तथा वेदों की निंदा करने वाला नास्तिक है। वेद अर्थात् ब्राह्मणों का जीवन–दर्शन नास्तिकों वेद निन्दकः मनुस्मृति 2/11। वेद हमारी संस्कृति के मूल–स्तंभ, अपौरूषेय, अलौकिक और अनंत ज्ञान की अक्षुण्ण निधि है। वैदिक वाक्य मंत्र हैं। इनकी प्रामाणिकता स्वतः है, परतः नहीं–जो इन मान्यताओं को स्वीकार करता है। वही आस्तिक है तथा जो इन मान्यताओं का निराकरण या निषेध करता है, वह नास्तिक है। इस दृष्टि से चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन को नास्तिक माना जाता है, क्योंकि वे वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। वेद को मानते हुए भी उसकी प्रामाणिकता पर संदेह किया जा सकता है। चार्वाक दर्शन को 'नास्तिक शिरोमणि' कहा जाता है। इसका कारण यह है कि जैन, बौद्ध, सर्वदा वेद का विरोध नहीं करते। वेद में मानने लायक बातों को ये भी किसी प्रकार से स्वीकार करते हैं। ये वैदिक आचरण का विरोध नहीं करते, परंतु चार्वाक के अनुसार वेद तो भण्ड (भाँड), धूर्त (ढोंग) और निशाचरों (राक्षसों) की कृति है, ये असत्य और अलीक (झूठ) का प्रचार करते हैं। इनके सभी विचार कपोल–कल्पित हैं। वेद सम्मत तमाम तत्थों–परलोक, पुनर्जन्म, ईश्वर आदि सत्ता को खारिज करते हुए उसे ये धूर्तता का पर्याय मानते है। इस प्रकार चार्वाक–दर्शन वेद का कट्टर विरोधी पूर्ण नास्तिक दर्शन है। इनसे किसी प्रकार का किसी धरातल (लौकिक या पारलौकिक) पर वेद से समझौता

नहीं हो सकता। उपर्युक्त विवरण से दो आवश्यक निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। पहला वेदों में आस्था रखने वाला आस्तिक तथा वेद विरोधी नास्तिक। दूसरा, आस्तिक–नास्तिक वर्ग की भी सीमाएँ हैं। कोई सर्वथा आस्तिक है तो कोई सर्वथा नास्तिक। उदाहरण के लिए वेदों में यकीन करने वाले तो सभी आस्तिक दर्शन हैं परन्तु इन आस्तिकों में भी कुछ पूर्ण आस्तिक हैं जो वैदिक विषयों की व्याख्या करना ही दर्शन का प्रयोजन मानते हैं। आस्तिक–नास्तिक को सामान्य जन में ईश्वर की सत्ता से जोड़कर भी देखे जाने की परम्परा रही है। ईश्वर की सत्ता मानने वाला आस्तिक और नहीं मानने वाला नास्तिक कहलाता है। मीमांसा दर्शन इस कोटि का आस्तिक दर्शन है। मीमांसा के दो प्रमुख विभाग : पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा है। पहले में वैदिक धर्म (यज्ञ कर्म) आदि की व्याख्या है। इसे कर्मकाण्ड भी कहते हैं। इसका प्रथम सूत्र 'अयाऽ तो धर्म जिज्ञासा' है दूसरे में वैदिक ज्ञान (ब्रह्म) की व्याख्या है। अतः इसे ज्ञान–काण्ड भी कहते हैं। परन्तु दोनों वेदों को पूर्ण मानते है। अतः ये वेदों पर प्रत्यक्ष रूप से आधारित दर्शन माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी आस्तिकों के वर्ग हैं जो वेदों को प्रमाण तो मानते हैं परन्तु परोक्ष रूप से। वेदों को यथावत नहीं मानते, वेद में वर्णित विषयों का भी ये वर्णन करते हैं। इनमें वेद से मित्र विषय अधिक हैं। अतः इनका स्वरूप वैदिक है परन्तु इनके विशय स्वतंत्र हैं। इस आस्तिक वर्ग में न्याय–वैषेशिक, सांख्य–योग आदि हैं। ये आस्तिक दर्शन तो हैं, परन्तु इनके विषय भिन्न हैं। इन्हें एक तरह से वेदों पर आधारित दर्शन कहा जाता है। एतदर्थ कहा जा सकता हैं कि पूर्णतः आस्तिक दर्शन (पूर्व और उत्तर मीमांसा) तथा मूलतः आस्तिक (सांख्य–योग, न्याय–वैषेशिक) हैं। इसी प्रकार पूर्णतः नास्तिक चार्वाक तथा मूलतः नास्तिक (बौद्ध, जैन) हैं।

मनु की परिभाषा ''नास्तिको वेद निन्दकः'' के आधार पर नास्तिक उसे कहा गया जो वेद–निन्दक है अथवा जो वेद की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करता। वेद के विचारों में उसकी आस्था नहीं है। इसके विपरीत आस्तिक वह है जो वेदों का भक्त है और इस तरह वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। वेद के विचारों को पूरी तरह ममता है। इस तरह भारतीय दर्शन में वेद–विरोधी नास्तिक तथा वेद समर्थक आस्तिक कहलाये। यहाँ उल्लेखनीय है कि सांख्य और मीमांसा दर्शन ईश्वर को नहीं मानने के बाद भी आस्तिक वर्ग में रखे जाते हैं क्योंकि वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। पाणिनि ने भी आस्तिक और नास्तिक की परिभाषा दी है। उनके अनुसार ''अस्ति नास्ति दिष्टं मति'' अर्थात परलोक है ऐसी जिसकी मति (विचार) है वह आस्तिक और परलोक नहीं है ऐसी जिसकी मति है वह नास्तिक है। यहाँ परलोक का तात्पर्य पुनर्जन्म से लिया गया है। किन्तु इस अर्थ में तो केवल भौतिकवादी चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन आस्तिक कहे जाएँगे क्योंकि सभी पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय दर्शन में एकमात्र चार्वाक ही नास्तिक दर्शन का पुरोधा माना जाता है।

बौद्ध और जैन दर्शन जिन्हें वेद–विरोधी होने के कारण प्रायः नास्तिक कहा जाता रहा है, अपने को नास्तिक कहलाना पसन्द नहीं करते हैं। बुद्ध ने अपने संवादों में नास्तिकवाद को मिथ्या दृष्टि कहकर गर्हित किया है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन नास्तिक की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि वह नरकगामी होता है। उनके अनुसार वेद को नहीं मानना नास्तिक होना नहीं है, क्योंकि वेद में सब कुछ गर्हित ही है।

आस्तिक और नास्तिक सम्बन्धी उपर्युक्त अवधारणा के कारण निश्चय ही भारतीय दर्शन का उपर्युक्त प्रकार का विभाजन उचित नहीं लगता इसके बजाय भारतीय दर्शन का वैदिक और अवैदिक अथवा ब्राह्मण और श्रमण में वर्गीकरण अधिक उचित लगता है। वैसे दोनों प्रकार के विभाजन में केवल शब्दों का अन्तर है, वैदिक दर्शन आस्तिक दर्शन है तथा अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शन है। आस्तिक–नास्तिक अवधारणा को लेकर अनेक व्याख्या होती रही है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इस पर विचार किया है। इस अध्याय में हम नास्तिक दर्शन के

नास्तिक दर्शन

संस्कृत शब्द 'नास्तिक' का कोई निश्चित अर्थ नहीं है। अंग्रेजी में मोटे तौर से इसका अनुवाद किया जा सकता है–'नान बिलीवर' (अनास्थावादी) अर्थात् जिस पर भरोसा नहीं किया जा सके। नास्ति अर्थात् जिसका अस्तित्व न हो। यह ऐसा शब्द है, जिसकी अलग–अलग व्याख्या संभव है। फिर भी आस्ति–नास्ति का एक पारम्परिक अर्थ स्वीकार कर लिया गया। वैदिक दार्शनिक बौद्ध, जैन तथा चार्वाक चिंतन–पद्धतियों को इसी अर्थ में 'नास्तिक' कहते थे। जैन तथा बौद्ध भी वैदिक पद्धतियों को नास्तिक कह सकते थे, किन्तु व्यवहार में उन्होंने यह विशेषण चार्वाक तथा उनके सहयोगियों के लिए सुरक्षित रखा हुआ था। 'नास्तिक' शब्द का अर्थ अनीश्वरवादी कभी नहीं रहा। यद्यपि आज यही धारणा व्याप्त है। वैदिक दार्शनिकों द्वारा आरोपित सभी नास्तिक पद्धतियों को यदि अनीश्वरवादी मान लिया जाए, तो उनमे अपने मतावलम्बियों की दो पद्धतियाँ, सांख्य तथा मीमांसा, इतनी ही अनीश्वरवादी हैं। कुछ अन्य पद्धतियों द्वारा भी ईश्वरवादी मान्यताओं का समर्थन ढुलमुल है। इन तमाम संगतियों के आलोक में अंततः ये माना जाना चाहिए कि वैदिक दर्शन–पद्धतियों को आस्तिक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों को उदारवादी नास्तिक और चार्वाक दर्शन को घोर नास्तिक कहा जाना चाहिए। इसमें इस उभयात्मक प्रक्रिया से भारत का प्रत्येक दर्शन बढ़ता गया जो इसका विकास कहलाता है। देखा जाए तो प्रत्येक दर्शन में पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष होते हैं। इनमें पहला खंडन या निषेध है, दूसरा मंडन या विधि है। इस खण्डन–मण्डन में तर्क का प्रयोग खुलकर किया जाता है। दर्शन आखिर तर्क ही तो है। स्वपक्ष के समर्थन में तथा दूसरों के पक्ष के निराकरण में तर्क ही प्रधान साधन है। अतः दार्शनिक विकास का स्वरूप तार्किक है। सूक्ष्म तर्कों से विरोधी मान्यताओं का निराकरण करना तथा सबल तर्कों से अपनी मान्यताओं का समर्थन करना दार्शनिकों का प्रमुख कार्य रहा है। इसी से दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास होता है। आलोचना और प्रत्यालोचना से विकास को गति

मिलती है। यदि वैदिक मान्यताओं के समर्थन और निराकरण के रूप में तर्क नहीं दिये गये होते तो आस्तिक नास्तिक दर्शनों का विकास नहीं होता। यह विकास एक तरह से भारतीय दर्शन का विशिष्ट पक्ष ही है, जो हर प्रकार के मत को अपने विचार रखने की स्वतंत्रता देता है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की धारा का एकमात्र अपवाद चार्वाक दर्शन नास्तिक दर्शन के नाम से अभिहित है। मनु ने नास्तिक पद का अर्थ वेद की निंदा करनेवालों से लिया है।[8] रीज डेविड्स के अनुसार धर्म में नहीं, शून्यवाद में आस्था रखनेवाला नास्तिक है।[9] मेधातिथि की दृष्टि में नास्तिक वह है जो परलोक या यज्ञ में विश्वास नहीं रखता। विश्वास रखने; न रखने तक ये व्याख्यास्थिर है।

पाणिनिसूत्र, 4.4.60 में कहा गया है– अस्ति नास्तिदिष्टं मतिः। पतंजलि ने इसका जो भाष्य किया है, उसका सार है कि आस्तिक वह है जो सोचता है कि वह सत्तावान् है; नास्तिक वह है जो सोचता है कि वह सत्तावान नहीं है। जयादित्य ने इसकी व्याख्या अपनी 'काशिका' में की है जिसका आशय है–आस्तिक वह है जो परलोक में विश्वास रखता है। नास्तिक वह है जो परलोक में विश्वास नहीं रखता है। इस अलग–अलग व्याख्या में केवल तर्क भेद है, तत्त्व भेद नहीं।

चार्वाक का संधि–विच्छेद चारू + वाक् है। चारू का अर्थ सुन्दर और वाक् का अर्थ वाणी या बोली है। अतएव सुन्दर बोली बोलने वाला चार्वाक है। ह्विटनी ने चार्वाक का अर्थ मधुरभाषी बतलाया है।[10] तारानाथ तर्कवाचस्पति के अनुसार, चार्वाक वह व्यक्तिविशेष या सम्प्रदाय है जिसका वचन या उपदेश सुन्दर, मनोरम या मनोनुकूल होता है। सुन्दर मनोरम और मनोनुकूल बोली या उपदेश वही है जिसे समाज का प्रत्येक सदस्य स्वीकारता है। अतः वह विचार जिसे समाज का हर व्यक्ति स्वीकारता है, चार्वाक मत है अर्थात् वह लोकव्यापी मत है। इसलिए उसे 'लोकायत' भी कहा जाता है। तर्क से बोली सुन्दर होती है अर्थात् मानने योग्य कहलाती है। यही चारू कथन है। लोकायत यानी लोक से आया हुआ मत।

लोकायत (लोक + आयत) का तात्पर्य है जो समस्त लोक में व्याप्त हो। हरिभद्र ने लोकायत का अर्थ उन साधारण लोगों से लिया है जो विचारशून्य मूर्ख की तरह आचरण करते हैं।[11] बुद्धघोष ने लोकायत मत को वितण्डावाद कहा है। किन्तु वितण्डावाद एक दार्शनिक अवधारणा नहीं हो सकता। चट्टोपाध्याय ने लोकायत का अर्थ 'लोक दर्शन' एवं 'भौतिक दर्शन' से लिया है।[12] राधाकृष्णन् की दृष्टि में लोकायत भौतिकवाद के लिए सुसस्कृत पद है। उन्होंने भौतिकवादियों को 'लोकायतिक' कहा है, और चार्वाक को लोकायत मत का प्रवर्त्तक माना है।[13] अतएव चार्वाक दर्शन वह है जिसका प्रणेता चार्वाक है। मत विशेष से एक सम्प्रदाय का आयत होना ही बताता है कि उसके विचारों में तार्किक सर्वव्याप्तता है। इन सब प्रभावों के बावजूद काशिकावृत्ति में कहा गया है– 'नयते चार्वी लोकायते' अर्थात् लोकायत शास्त्र में चार्वी नामक आचार्य पदार्थों की व्याख्या करते हैं।[14] चार्वी से चार्वाक शब्द व्युत्पन्न हुआ और इसका प्रयोग लोकायत मत

के पंडितों के लिए होने लगा।[15] कृष्ण मिश्र ने अपने 'प्रबोध चन्द्रोदय' में लोकायत मत को बृहस्पति द्वारा प्रवर्त्तित माना है जिसे कालान्तर में चार्वाक को सौंपा गया। चार्वाक ने अपने शिष्यों के द्वारा इसे समाज में फैलाया।[16] संस्कृत–कोश में चारू को बृहस्पति का पर्याय माना गया है। अतएव चार्वाक का तात्पर्य बृहस्पति की वाणी है। इस तरह तो चार्वाक मत का प्रणेता बृहस्पति होना चाहिए। राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि चार्वाक किसी मत–संस्थापक व्यक्ति का नाम नहीं है; बल्कि परलोक, पुनर्जन्म, देववाद को जो लोग स्वीकार नहीं करते थे; उनके लिए यह शब्द गाली के तौर पर प्रयुक्त किया जाता था।[17] यह किसी लोक प्रचलित मत को निषेधित करना सूचित करता है। जो मान्य नहीं, उसका बहिष्कार किया जाना अधिनायकवादी दृष्टिकोण है। चार्वाक के प्रति यह दृष्टिकोण अपनाया गया, जो उसकी ख्याति को भी सूचित करता है।

आनन्द झा की दृष्टि में चार्वाक चारवाक्क का अपभ्रंश है।[18] चारवाक्क का अर्थ चरों की वाणी को प्रामाणिक मानकर चलनेवाला राजा या राज्य का प्रधान है। अतः चार्वाक दर्शन का तात्पर्य है राजदर्शन या राज्यदर्शन। राज्यदर्शन वह दर्शन है जिसमें राज्य–प्रशासन को चलाने के विषय में एक मापदंड दिया जाता है। राज्य के अंतर्गत व्यक्ति, संस्था एवं समाज भी आते हैं, और इनका दार्शनिक विवेचन राजनीति दर्शन का कार्य है। अतएव चार्वाक दर्शन राजनीति दर्शन है। यह अनुशासन स्थानान्तरण का विभेदक उदाहरण है। आनन्द झा ने चारवाक्क का एक दूसरा अर्थ भी लिया हैं चारवाक्क का अर्थ है चरू सम्बन्धी भाग को अपने घर के कोने में स्थान देनेवाला, फलतः, उसकी सुरक्षा या समादर करनेवाला। इस अर्थ के अनुसार यज्ञीय हिंसा भी चार्वाक–सम्मत नहीं हैं।[19] इस दृष्टि से चार्वाक दर्शन अहिंसक दर्शन है। अहिंसा एक नैतिक मूल्य है। इसलिए चार्वाक दर्शन नीतिदर्शन है। इस प्रकार चार्वाक किसी व्यक्तिविषेश का नाम न होकर एक नैतिक एवं राजनैतिक विचार का नाम हैं अतः चार्वाक एक सिद्धान्त है, व्यक्ति नहीं; एक प्रतीक है, संज्ञा नहीं। किसी मत का नीति, मूल्य, दर्शन आदि में समयानुकूल व्याख्या के द्वारा परिवर्तन होता जाना भी उसकी लोकप्रियता से शास्त्रीयता के महत्त्व को दर्शाता है। चार्वाक के साथ यही सब हुआ। चार्वाक तर्क प्रधान दर्शन है।

चार्वाक दर्शन का ज्ञान हमें मुख्यतः दूसरे दर्शनों से मिलता है। भारतीय दर्शन में अपने विचारों को रखने की एक पद्धति है। सबसे पहले 'पूर्वपक्ष' दिया जाता है। पूर्वपक्ष में दूसरे दर्शनों के विचारों को रखा है। तब 'खण्डन' होता है उन विचारों को काटा जाता है और तब अपने विचार दिये जाते है। दूसरे भारतीय दर्शन के 'पूर्वपक्ष' से हमें चार्वाक दर्शन का ज्ञान मिलता है। 'पूर्वपक्ष' में विचारों के रखने का अर्थ है उन्हें काटना, लेकिन भारतीय दर्शनिक काटने के पहले पूरे विचार को रख देते है, चार्वाक दर्शन के ज्ञान संबंध में यही प्रमुख आधार है, दूसरे दर्शनों का 'पूर्वपक्ष'।

नास्तिक दर्शन में चार्वाक दर्शन को नास्तिक शिरोमणि के रूप में लिया जाता रहा है। नास्तिक शिरोमणि चार्वाक इसलिए भी कहा जाता है कि सम्पूर्ण विश्व में विश्वास के आधार पर किसी न किसी रूप से मान्य ईश्वर की अलौकिक सत्ता को सिरे से अस्वीकार कर देता हैं। उनके कथनानुसार संसार में ईश्वर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। चार्वाक को जो कुछ भी बाहरी इन्द्रियों से दिखाई देता है, या अनुभूती होती है, उसी सत्ता को स्वीकारता है। चार्वाक के सिद्धांत में प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड़कर कोई भी दूसरे प्रमाण को नहीं मानता है। अन्य दर्शनों में जो ईश्वर की कल्पना की गई है उसका प्रमाण प्रत्यक्ष के द्वारा संभव नहीं है।

चार्वाक दर्शन ईश्वर और परलोक को नहीं मानता है। परलोक न मानने के कारण ही इस दर्शन को लोकायत भी कहते हैं। सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक के मतानुसार सुख ही मानव जीवन का प्रधान लक्ष्य है। जगत में दुःख भी है। यह सोचकर जो सुख नहीं भोगते हैं, वे सभी मूर्ख हैं। जैसे हम कह सकते हैं कि मछली में काँटे होते हैं तो क्या हम इससे खाना छोड़ दें। जानवरों के डर से खेत की बोवाई छोड़ दें? चार्वाक आत्मा से पृथक कोई प्रदार्थ नहीं मानते।

चार्वाक के अनुसार चार महाभूतों के अलावा आत्मा नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं हैं। चैतन्य आत्मा का गुण है। आत्मा नामक कोई वस्तु है ही नहीं, अतः चैतन्य शरीर का ही गुण या धर्म सिद्ध होता है। अर्थात यह मानव शरीर ही आत्मा है।

ज्ञान मीमांसा के संबंध में चार्वाक लोग प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। विषय तथा इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ने वाले संसार ही प्रमेय है। इसके अलावे अन्य प्रदार्थ असत् हैं। आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा के द्वारा रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का प्रत्यक्ष हम सबको होता है। चार्वाक लोग आचार मीमांसा से प्रत्यक्ष दृश्यमान देह और जगत् के अलावे किसी अन्य पदार्थ को स्वीकार नहीं करते। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चार पुरूषार्थ को वे लोग पुरूष अर्थात मनुष्य देह के लिए उपयोगी मानते हैं। उनकी दृष्टि में अर्थ और काम ही परम पुरूषार्थ है। धर्म नाम की कोई वस्तु मानना बड़ी मूर्खता है। जब इस जगत के अलावा कोई अन्य स्वर्ग आदि है ही नहीं, तो धर्म के फल को स्वर्ग में भोगने की बात अनर्गल (झूठा) है।

चार्वाकों को मोक्ष की कल्पना भी उनके तत्त्व मीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा के प्रभाव से पूर्ण प्रभावित है। जब तक शरीर है तब तक मनुष्य नाना प्रकार के कष्ट को भोगता है। यही नरक है। इस कष्ट समूह से मुक्ति तब मिलती है, जब देह चैतन्य रहित हो जाता है अर्थात मृत्यु हो जाता है। यहाँ मृत्यु (मरना) ही मोक्ष है। क्योंकि मृत शरीर को किसी भी कष्ट का अनुभव नहीं होता है। अन्य दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसी के मुक्त होने की चर्चा की गयी है और मोक्ष का स्वरूप भिन्न–भिन्न दर्शनों में अलग–अलग है। चार्वाक उनकी मान्यता को प्रश्रय नहीं देता है। वे न तो मोक्ष को नित्य मानते हुए सन्मात्र मानते है न नित्य मानते हुए सत् और चित् स्वरूप मानते हैं न ही वे सच्चिदानन्द स्वरूप में उसकी स्थिति को ही मोक्ष स्वीकार करते हैं।

संदर्भ –

(1) निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य, डॉ. याकुब मसीह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1986, पृ.–23

(2) भारतीय दर्शन की भूमिका, डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणासी, 1976 पृ.–02

(3) भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम. हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965, पृ.–37

(4) भारतीय दर्शन, डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1988, पृ.–24

(5) भारतीय दर्शन, बसन्त कुमार लाल, भारती भवन, पटना, 1969, पृ.–07

(6) भारतीय दर्शन की रूपरेखा, डॉ. बद्रीनाथ सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृ.–59

(7) भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, 1990, पृ.–8

(8) भारत मे नास्तिकवाद, कृष्ण कुमार दीक्षित, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–45

(9) नास्तिकोवेदनिन्दक, मनुस्मृति 2/11

(10) पालि–इंगलिश डिक्शनरी, रीज डेविड्स, पृ.–182

(11) संस्कृत ग्रामर, डब्ल्यू. डी. ह्विटनी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962, पृ.–232

(12) षड्दर्शन समुच्चय, हरिभद्रसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, 1970, पृ.–451

(13) ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी–3, एस. एन. दासगुप्ता, युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1952, पृ.–514

(14) लोकायत, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, पी. पी. एच. दिल्ली, 1973, पृ.–73

(15) इंडियन फिलॉसफी–1, एस. राधाकृष्णन्, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि, लंदन, 1966, प .–279

(16) भारतीय दर्शन–सार, बलदेव उपाध्याय, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली,1962, पृ.–120

(17) चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, डॉ. सर्वानन्द पाठक, पृ.–42

(18) ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी–3, एस. एन. दासगुप्ता, पृ.–531

(19) दर्शन–दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1961, पृ.–485

■

बौद्ध सम्प्रदायों में निर्वाण और जीवन मुक्ति

स्नेहा कुमारी

बौद्ध दर्शन की उत्पत्ति ई.पू. छठी शताब्दी में हुई। बौद्ध दर्शन की उत्पत्ति में धार्मिक समस्याओं और सामाजिक परिस्थितियों की विशेष भूमिका थी। भारतीय दर्शन का विकास 'प्रणालियों' अथवा 'संप्रदायों' के माध्यम से हुआ है। समय बीतने के साथ नए विचारकों के उदय के साथ एक संप्रदाय भी कई शाखाओं एवं उपसंप्रदायों में बँटते गए। मूल ग्रथों अथवा सामग्रियों की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं और संप्रदाय के अंदर संप्रदाय का विकास होते रहते हैं।[1] बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध दर्शन में भी अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ है। इनमें कहीं–कहीं तीस से अधिक संप्रदायों की चर्चा हैं तो कहीं–कहीं अट्ठारह बौद्ध संप्रदायों का उल्लेख है। लेकिन इनमें से केवल दो संप्रदायों का हीनयान और महायान का ही वर्णन मिलता है।

गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध–दर्शन कोई एक दर्शन नहीं बल्कि दर्शनों का समूह है। बौद्ध–दर्शन का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि बुद्ध ने दर्शन की व्यर्थता प्रमाणित करने का प्रयास किया फिर भी उनका दर्शन वाद–विवाद से अछूता न रह सका। इसका कारण बुद्ध का पूर्ण युक्तिवादी होना कहा जा सकता है। उन्होंने अपने शिष्यों को बिना सोचे–समझे किसी बात को मानने की सलाह नहीं दी थी।[2] सत्य की खोज के लिए बुद्ध आलोचनात्मक विश्लेषण का प्रयोग करते थे। पर्यवेक्षण एवं तर्क पर उनका आग्रह था। उनका धर्म रूढ़ि या परम्परा पर आधारित नहीं था। बुद्ध की एक उक्ति बताई जाती है जिसका आशय है, ''मेरे विधान को मुझमें केवल भक्ति रखने के कारण ही किसी को स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए, बल्कि पहले सोने की भांति आग में तपाकर उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए।''[3] उनके इस दृष्टिकोण में ही नये दार्शनिक मत का बीज वर्तमान था।

गौतम बुद्ध के जीवन–काल में भी उनके अनुयायियों में मतभेद तथा अस्पष्टता की प्रवृत्तियां आने लगी थी, इस अस्पष्टता के साथ इस धर्म के न केवल

संपर्क – शोधप्रज्ञा (दर्शनशास्त्र), C/o श्री विजय कुमार, यमुना विहार कॉलोनी, तुलसी चौक, सैदानीचक, पो. – मितनचक, रामकृष्णानगर, पटना–804453, मो. – 8252514125, Email –kumarisneha92@gmail.com

अपनी जन्मभूमि के अन्दर बल्कि विदेशों में भी व्यापक और द्रुत प्रसार ने मिलकर कालान्तर में इसके अनुयायियों में बड़े मतभेद उत्पन्न हो गए।[4] बुद्ध के जीवन–काल में यह ज्यादा नहीं बढ़ पाई थी। लेकिन बुद्ध के देहान्त (महापरिनिर्वाण) के बाद मतभेद बहुत ज्यादा बढ़ गई। इस बात की जानकारी 'कथावत्थु' से प्राप्त होती है। बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप अत्यन्त व्यावहारिक था। उनके दर्शन में तत्त्वमीमांसीय विचारों के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों को 'अव्याकृत प्रश्न' कहा था। बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का अनुशीलन ही व्यक्ति के लिए उपयोगी एवं सार्थक माना। किन्तु बुद्ध के मृत्यु के बाद बौद्ध दर्शन में तत्त्वसंबंधी विवाद प्रांरभ हुए और धीरे–धीरे दार्शनिक विवादों का जन्म हुआ। मूल बौद्ध धर्म में सुधार हेतु परिवर्तनवादी प्रवृत्तियाँ जोर पकडने लगी। इन मतभेदों को दूर करने के लिए 483 ई. पू. में राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति हुई।[5] पहली संगीति के एक सौ वर्ष बाद 383 ई. पू. में वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ। अत्यधिक वाद–विवाद के बाद यह दो संप्रदायों में बँट गए, पहला 'स्थविरवाद' और दूसरा 'महासांघिक' जो कालान्तर में क्रमशः 'हीनयान' और 'महायान' के नाम से प्रसिद्ध हुए। महायान के अस्तित्व में आने के बाद मूल बौद्ध धर्म को हीनयान कहा गया। महायान के उदय के बाद बौद्ध धर्म की तृतीय एवं चतुर्थ संगीतियों ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। वस्तुतः चतुर्थ बौद्ध संगीति द्वारा बनाए गए आचार–नियम ही महायान धर्म के जीवन–सूत्र बने।

हीनयान और महायान इन दोनों संप्रदायों के नैतिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में बहुत अंतर है। उदाहरण के लिए, हीनयान संप्रदाय में सामूहिक मानवता की मुक्ति की जगह पर व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु महायान का आदर्श यह है कि प्रबुद्ध व्यक्ति न केवल अपने लिए, अपितु सभी संचेतन प्राणियों के लिए परम बोधत्व की खोज करने पर अधिक बल देते है। इसके अतिरिक्त हीनयान बाह्य जगत की यथार्थता में विश्वास करता है, महायान इसे स्वीकार नहीं करता हैं।[6]

इन दोनों संप्रदायों को पुनः चार संप्रदायों में विभाजित किया जाता है। हीनयान में वैभाषिक एवं सौत्रांतिक आते है, तथा महायान में माध्यमिक एवं योगाचार यें दो–दो संप्रदाय में विभक्त हुए।

1- वैभाषिक – बाह्य प्रत्यक्षवाद–हीनयान (र्स्वास्तित्वसवादी)
2. सौत्रांतिक – बाह्यानुमेयवाद हीनयान (र्स्वास्तित्ववादी)
3- माध्यमिक – शून्यवाद–विज्ञानवाद महायान
4. योगाचार – विज्ञानवाद महायान

बौद्ध दर्शन की चारों शाखाओं के वर्गीकरण में दो प्रश्न निहित हैं। वे है :– पहला 'किस प्रकार की सत्ता का अस्तित्व है?' और दूसरा 'ब्राह्य वस्तु का ज्ञान किस प्रकार होता है?' पहला प्रश्न अस्तित्व–संबंधी है जबकि दूसरा प्रश्न ज्ञान–संबंधी है। पहले प्रश्न के उत्तर तीन तरह स दिए गए है। पहला उत्तर यह

है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, सभी शून्य है इस मत में मानसिक तथा बाह्य विषयों का निषेध हुआ है। यह उत्तर माध्यमिको–शून्यवाद के अनुसार दिया गया है। दूसरा उत्तर यह है कि विज्ञान ही एक मात्र सत्य है। विज्ञान के अलावा सभी विषय असत्य है। भौतिक विश्व का कोई अस्तित्व नहीं है। इसे योगाचार–विज्ञानवादी कहा जाता है। तीसरा उत्तर यह है कि मानसिक तथा विषयगत दोनों प्रकार की वस्तुएँ सत्य है। इस मत के मानने वाले को र्स्वास्तिवादी कहा जाता है क्योंकि वे सभी वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते है। हम यहाँ कह सकते है कि बाह्य वस्तुओं का ज्ञान किस प्रकार होता है? सौत्रान्तिक के अनुसार बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। बल्कि उनका ज्ञान अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है। अतः इसे बाह्यानुमेवाद कहा गया। वैभाषिक के अनुसार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए इस मत को बाह्य प्रत्यक्षवाद कहा जाता हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म की चार शाखाएँ विकसीत हो गई।

हीनयान शाखा से संबंध रखनेवाले कल्पनात्मक सम्प्रदाय सर्वास्तिवाद यथार्थवाद को माननेवाले हैं। ये चित्त् और जड़ दोनों की सत्ता को मानते है। इनके अनुसार मानसिक और बाह्य दोनों ही प्रकार की वस्तुएँ वास्तविक है। ये बाह्य जगत की सभी वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास करते है, तथा इन वस्तुओं का प्रत्यक्ष साधारण रूप से किया जा सकता है। इसे सर्वास्तित्ववादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये सभी विषयों का अस्तित्व तीनों कालों अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य में वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करते है।

वैभाषिक बाह्य विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से मानते है। वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष को छोड़कर किसी दूसरे तरीके से नहीं हो सकता है। वस्तुओं का ज्ञान मानसिक प्रतिरूपों के आधार पर मानना भ्रामक है। अगर कोई व्यक्ति ने कोई बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं किया है तो वह यह नहीं समझ सकता कि कोई मानसिक अवस्था बाह्य वस्तु की तरह है। इसलिए वैभाषिक मत को बाह्य प्रत्यक्षवाद कहा जाता है। प्रत्यक्ष को ज्ञान तथा कल्पना से रहित माना गया है। इन्द्रिय–ज्ञान, मनोविज्ञान, आत्म–संवेदन तथा योगविज्ञान प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को भी प्रमाण माना गया है। बाह्य विषयों को वैभाषिक ने अणुओं का संघात माना है। अणु अविभाज्य है। अणु में रूप, शब्द, संवाद, आकार नही होता है। अणु एक दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकता हैं। वैभाषिक ने निर्वाण को भावरूप माना है। इसमें दुःख का पूर्णतः विनाश हो जाता है। निर्वाण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार निर्वाण के संबंध में जो भावात्मक दृष्टिकोण है। उसकी मीमांसा वैभाषिक ने की है। वैभाषिक के अनुसार बुद्ध एक साधारण व्यक्ति थे। उन्होंने किसी अन्य की सहायता के बिना आन्तरिक दृष्टि द्वारा ही सत्य का ज्ञान प्राप्त किया।

हीनयान संप्रदाय की दूसरी शाखा सौत्रान्तिक है। सौत्रान्तिक मत सूत्र पिटक पर आधारित है, इस मत के समर्थक कुमार लाट है। यह चित्त तथा बाह्य

वस्तुओं, दोनों के अस्तित्व को मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य वस्तुओं की सत्ता में विश्वास करते है। परन्तु उनका मानना है कि बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, बल्कि उसके प्रतिरूप का ही ज्ञान होता है। बाह्य विषय मन में प्रतिरूप उत्पन्न करते है। बाह्य विषयों के अलग–अलग आधार के अनुसार उनके प्रतिरूप भी अलग–अलग होते है। इनकी भिन्नता से हम बाह्य विषयों की भिन्नता का अनुमान करते है। इस प्रकार बाह्य विषयों का ज्ञान उनसे उत्पन्न मानसिक आकारों से अनुमान प्राप्त होता है। इसलिए इस मत को बाह्यानुमेयवाद कहा जाता है। यह मत परोक्ष यथार्थवाद कहा जाता हैं क्योंकि बाह्य वस्तुओं का ज्ञान उनके द्वारा उत्पन्न मन में प्रतिरूपों के आधार पर होता है। यह मत वस्तुवाद कहा जाता है, क्योंकि वस्तुओं का ज्ञान मन के चाहने भर से नहीं हो जाता है। वस्तुओं का अस्तित्व मन से स्वतन्त्र है। सौत्रान्तिक व्यक्ति विशेष को यथार्थ मानते हैं। व्यक्ति विशेष से अलग सामान्य की सत्ता का खंडन करते हैं। ये बाह्य जगत् में परमाणुओं का निवास मानते हैं। परमाणु निरवयव होते हैं। वे परस्पर संयुक्त नहीं होते है। सौत्रान्तिक संप्रदाय के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के चार कारण माने गये हैं। इनके मिलने से ही ज्ञान संभव होता है। ये है–आलम्बन कारण, समनन्तर कारण, अधिपति कारण और सहकारी कारण। वह बाह्य वस्तु जिससे ज्ञान का संस्कार या आकार उत्पन्न होता है, ज्ञान का आलम्बन कारण है। जैसे–घट 'घट–ज्ञान' का आलम्बन कारण है। वह अव्यवहित पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था, जिससे ज्ञान में चेतना आती है, ज्ञान का समनन्तर कारण है। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का अधिपति कारण हैं, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों के अभाव में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संभव नहीं है और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उपर्युक्त तीनों कारणों के अतिरिक्त ज्ञान की उत्पत्ति के लिए वस्तु का आकार, आलोक, आवश्यक दूरत्व, आदि कारणों का होना भी आव यक है। सौत्रान्तिक इन्हें सहकारी कारण कहते है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति के लिए इन चारों कारणों का होना आवश्यक है।

माध्यमिक दर्शन–पद्धति एक प्राचीन पद्धति है जिसका पता बुद्ध के आदिम उपदेशों में मिलता है। बुद्ध ने अपने नैतिक उपदेश को बराबर मध्यम मार्ग कहा है। इस मत के प्रवर्त्तक नागार्जुन को माना जाता है। साधारणतः व्यक्ति शून्यवाद से यह समझते है कि संसार शून्यमय है। अर्थात् दूसरे भाब्दों में किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नहीं मानना तथा पूर्णतः निषेध को 'शून्य' कहा जाता है। परन्तु शून्य का अर्थ माध्यमिक मत में शून्यता नहीं है। इसके विपरीत शून्य का अर्थ वर्णनातीत है। नागार्जुन के अनुसार परमतत्त्व अवर्णनीय है। मानव को वस्तुओं के अस्तित्त्व की प्रतीति होती है परन्तु जब वह उनके तात्त्विक स्वरूप को जानने के लिए तत्पर होता है तो उनकी बुद्धि काम नही करती है। वह यह निश्चय नहीं कर पाती कि वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप सत्य है या असत्य है या सत्य तथा असत्य दोनों है या न तो सत्य है और न असत्य ही है। क्योंकि ऐसा कहना पूर्णतः आत्म विरोधी होगा। वस्तुओं का स्वरूप इन चार कोटियों से रहित रहने के कारण

'शून्य' कहा जाता है। माध्यमिक पारमार्थिक सत्ता को मानते है, लेकिन वे उसे अवर्णनीय बतलाते है। उदाहरण के लिए हम कह सकते है कि वे प्रत्यक्ष जगत् के परे पारमार्थिक सत्ता को मानते है। लेकिन वे उसे वर्णनातीत कहते हैं।

शून्यवाद को मध्यम–मार्ग भी कहा जाता है, क्योंकि यह वस्तुओं को न तो सर्वथा निरपेक्ष तथा आत्म–निर्भर और न पूरा असत्य ही मानता है। सत्य और असत्य जैसे ऐकान्तिक मतों का निषेध कर शून्यवाद वस्तुओं के पर–निर्भर अस्तितव को मानता है। बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को भी इसीलिए मध्यम–मार्ग कहा है। मध्यम–मार्ग को अपनाने के कारण शून्यवादी को माध्यमिक कहा गया है।

नागार्जुन अपने चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करके सब विषयों का अनस्तित्व सिद्ध करते है। वे उत्पत्ति का खंडन करते हैं। वस्तु न स्वयं से उत्पन्न हो सकती है और न अन्य वस्तु से भी उत्पन्न हो सकती है। वस्तु स्वयं और अन्य वस्तु से भी उत्पन्न नहीं हो सकती है, इसलिए उत्पत्ति असंभव है। इसी प्रकार नागार्जुन पंचस्कंध, द्रव्य–गुण और आत्मा को असत्य सिद्ध करते हैं। ये दो प्रकार के सत्य को मानते हैं। वे है :– पहला है, संवृत्ति सत्य – यह साधारण मनुष्यों के लिए है। दूसरा है, पारमार्थिक सत्य – यह निरपेक्ष रूप से सत्य है। संवृत्ति सत्य पारमार्थिक सत्य को प्राप्त करने का साधन है। संवृत्ति सत्य अविद्या, मोह आदि भी कहलाता है। संवृत्ति सत्य भी दो प्रकार का होता है–

1. तथ्य संवृत्ति – यह वह वस्तु या घटना है जो किसी कारण से उत्पन्न होती है। इसे सत्य मानकर सांसारिक लोगों के व्यवहार होते हैं। इस प्रकार यह लोक का सत्य है।
2. मिथ्या संवृत्ति – यह वह घटना है जो कारण से उत्पन्न होती है। परन्तु इसे सभी सत्य नहीं मानते। दूसरे शब्दों में इससे लोगों का व्यवहार नहीं चलता है।

पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति निर्वाण में होती है। निर्वाण की अवस्था का वर्णन भावात्मक रूप में होती है। निर्वाण की अवस्था का वर्णन भावात्मक रूप में संभव नहीं है। इसका वर्णन निषेधात्मक रूप से ही हो सकता है। नागार्जुन ने निर्वाण का नकारात्मक वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि जो अज्ञात है, जो नित्य भी नहीं हैं, जिसका विनाश भी संभव नहीं है, वह निर्वाण है।

योगाचार विज्ञानवाद के प्रवर्त्तक असंग और वसुबन्धु थे। लंकावतार सूत्र विज्ञानवाद का मुख्य ग्रंथ माना जाता है। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान सत्य है। माध्यमिकों ने बाह्य वस्तुओं तथा चित्त के अस्तित्व को नहीं माना है। विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं की सत्ता का खंडन करते हैं परन्तु चित्त की सत्ता में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि यदि विज्ञान अर्थात् मन की सत्ता को नहीं माना जाए तब सभी विचार असिद्ध हो जाते है। अतः विचार की संभावना के लिए चित् को मानना आवश्यक है। विज्ञानवाद शून्यवाद से अलग है। शून्यवादी चित्त और अचित्त दोनों के अस्तित्व को नहीं मानते हैं जबकि योगाचार विज्ञानवादी चित्त की सत्ता में विश्वास करते है। विज्ञानवाद विज्ञान को एक मात्र सत्य मानता है। लंकावतार सूत्र के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र सत्य है बाकी सभी धर्म असत्य

है। काम, रूप, अरूप, तीनों लोक इसी विज्ञान के विकल्प हैं। विज्ञानवाद बाह्य पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है।

धर्मकीर्ति के अनुसार नीले रंग तथा नीले रंग के ज्ञान का वस्तुतः कोई अलग अस्तित्व नहीं है। दोनों एक हैं। वे भ्रम के कारण दो मालूम होते है। जिस प्रकार स्वप्न में बाहरी मालूम होने वाली चीजें मन के अंदर ही होती है, उसी प्रकार साधारण मानसिक अवस्था में बाहर मालूम होने वाला पदार्थ मन में ही रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है। विज्ञान के दो भेद है – प्रवृत्ति विज्ञान और आलय विज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान के सात भेद हैं। वे हैं। चक्षु–विज्ञान, श्रोत्र, धारण, रसना, काय, मनोविज्ञान तथा विशिष्ट मनोविज्ञान। पहले पाँच विज्ञानों से वस्तु का ज्ञान होता हैं, मनोविज्ञान से उस पर विचार किया जाता है। विशिष्ट मनोविज्ञान से उसका प्रत्यक्ष होता है। इन सबको संयोजन करने वाला चित्त है जिसे, आलय विज्ञान कहा जाता है। इसका अर्थ है घर। यहाँ सभी ज्ञान बीज रूप में एकत्रित रहते है। आलय–विज्ञान सभी विज्ञानों का आधार है।

इस प्रकार बौद्ध संप्रदायों की विकास एकरेखीय नहीं बल्कि टेढ़े–मेढ़े रास्तों से गुजरते हुए बहुरेखीय रही है। इसके बावजूद उसे बौद्ध दर्शन कहा जाना इसलिए सार्थक है क्योंकि सभी संप्रदाय बुद्ध के वचनों को अपने तरीके से व्याख्या करते हैं। यही कारण है कि सैद्धान्तिक व्याख्याओं की विभ्रमकारी बहुलता में भी बौद्ध दर्शनों के सम्प्रदाय केन्द्रित विकास में आधारभूत एकता के सूत्र में परिलक्षित होते रहे हैं। तमाम सैद्धान्तिक विचलनों के बावजूद किसी भी बौद्ध संप्रदाय ने क्षणिक पर्यायों की सत्ता के अलावा उन पर्यायों के पृष्ठ में किसी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जो उन्हें एक सूत्र में न बाँधती हो।

बौद्ध धर्म के अन्दर ज्ञान–मीमांसा और तत्त्व–मीमांसा के एक के बाद एक अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ, लेकिन उसका व्यावहारिक उपदेश प्रायः अपरिवर्तित बना रहा। यह बात हीनयान के बारे में सही हो सकती है, लेकिन महायान के बारे में सही नहीं है। यह विश्वास कि सब दुःखमय है और सुख 'दुःख की अल्प मात्रा' ही है तथा सम्यक् ज्ञान उसे दूर करने का उपाय है महायान में भी बना रहा। निर्वाण की प्राप्ति के लिए निर्धारित साधना क्रम भी वही पहले–जैसा अंशतः नैतिक और अंशतः बौद्धिक है। परन्तु जीवन के आदर्श की धारणा यहाँ बहुत ही बदल जाती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो आदर्श बहुत पहले से प्रचलित हो गए थे। अनेक अन्य नास्तिक मतों की तरह हीनयान ने निवृत्ति का आदर्श अपनाया, जबकि महायान ने अधिकांशतः हिन्दु विचारधारा के प्रभाव से अपने व्यावहारिक उपदेश को प्रवृत्ति के आदर्श के अनुसार ढाला। यद्यपि अपना निर्वाण अब भी जीवन का लक्ष्य बना रहता है, तथापि अब यह स्वयं साध्य नहीं रहता, बल्कि दूसरों के निर्वाण के लिए प्रयत्न करने की योग्यता लानेवाला मात्र समझा जाता है। यही बोधिसत्व का आदर्श है, जो हीनयान के अर्हत् के आदर्श से भिन्न है। अपने को पूर्ण बनाकर बोधिसत्त्व अन्यों के आध्यात्मिक हित के लिए अपने निर्वाण

का त्याग कर देता है। वह अपने ही बुद्धत्व से सन्तुष्ट न रहकर अपने साथ के दुःखी प्राणियों की सहायता के लिए उत्सुक रहता है और उनके लिए कोई भी त्याग करने के लिए तैयार रहता है। वास्तव में आत्म–त्याग से युक्त प्रेम अथवा निकाम कर्म को महायान धर्म का मूल कहा जा सकता है। बोधिसत्व अपने शुभ कर्मों को अन्यों को दे सकता है और इस प्रकार दुःख से मुक्ति पाने के प्रयत्न में व्यक्ति की सहायता कर सकता है। इससे श्रद्धालु व्यक्ति के मन में बोधिसत्व के प्रति पूर्ण भक्ति प्रदर्शित करने के लिए प्रेरित करती है और उसके मन के सारे संक्लेशों को दूर कर उसे निर्वाण के पथ पर आगे बढ़ने के लिए उसे प्रोत्साहित करती है।

संदर्भ :–

1. मृणालकांति गंगोपाध्याय, भारत में दर्शनशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ.–34.
2. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002, पृ.–125.
3. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (वैदिक युग से बौद्ध काल तक) राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ.–501.
4. डॉ. गोवर्धन भट्ट, अनुवादक, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965, पृ.–196.
5. राममुर्ति पाठक, भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहबाद, 2017, पृ.–41.
6. मृणालकांति गंगोपाध्याय, भारत में दर्शनशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ.–35.
7. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002, पृ.–126.
8. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (वैदिक युग से बौद्ध काल तक), vol – 1, राजपाल प्रकाशन, पृ.–503.
9. डॉ. बद्रीनाथ सिंह, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आशा प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ.–198.
10. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998, पृ.–74.
11. दार्शनिक त्रैमासिक, प्रधान सम्पादक, डॉ. रमेशचन्द्र सिन्हा, वर्ष–62, अंक–4, अक्टूबर–दिसम्बर, 2016, पृ.–30.

■

राजनीति

संसद में महिलाओं की भागीदारी और आरक्षण

डॉ. आनन्दी प्रसाद

लोकतंत्र में राजनीतिक चेतना नई सोच को जन्म देती है। यह अधिकार और समानता प्राप्त करने के लिए साहस और शक्ति प्रदान करती है तथा आत्मविश्वास के साथ–साथ महत्त्वाकाँक्षी भी बनाती है। संसद और विधानमण्डल जन आकाँक्षाओं और उपेक्षाओं की पूर्ति के साधन हैं, परन्तु अभी भी लिंगभेद के चलते महिलाओं के उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया है। इसलिए लिंगभेद रहित प्रतिनिधित्व के माध्यम से महिलाएँ अपने अधिकार और समानता के अस्तित्व की रक्षा कर सकती है। महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी से तात्पर्य सिर्फ यह नहीं महिलाएँ मत दे, प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हों, राजनीतिक समुदायों को सहयोग दे, वरन् इसका तात्पर्य राजनीतिक शक्ति सम्बन्धी सभी गतिविधियों को प्रभावित करना भी है। शासक वर्ग का सदस्य बनकर सक्रिय नेतृत्व तथा समर्थन या विरोध करें। राजनीति में महिलाओं की भागीदारी उनके जीवन को परिवर्तित करती है, पुरुषों के समक्ष खड़ा होने का अवसर देती है तथा सशक्तिकरण को नई दिशा देती है। राजनीतिक भागीदारी से उसकी अपनी पहचान होती है, आत्मगौरव बढ़ता है।

विश्व के लगभग सभी देशों में पुरुष सत्तात्मक शासन व्यवस्था कायम रहने के कारण सत्ता और शासन की बागडोर पुरुषों के हाथों में है, जिसके कारण आधी आबाजी के बावजूद संसद में जनप्रतिनिधि पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ कम हैं। इसमें पुरुष उच्च आकाँक्षा और स्त्री उपेक्षा की बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है। जन प्रतिनिधियों के विश्व मानचित्र का अध्ययन से पता चलता है कि वर्तमान समय में महिलाओं की निम्न राजनीतिक भागीदारी उसकी आत्मनिर्भरता और स्वतन्त्र चिन्तन का अभाव है। वैसे उन सभी कार्यों की कुशलता पूर्वक निर्वहन करने की क्षमता महिलाओं में है जो पुरुष करते हैं। यह दूसरी बात है कि परम्परागत संस्कार, रूढ़िवादिता तथा मानसिक पराधीनता जैसे अवगुण भी उनके साथ है, फिर भी अपनी व्यापक सोच और संघर्ष के बल

संपर्क – एन.टी.पी.सी. कॉलोनी, पूर्वी रामकृष्णा नगर, पटना–800027, चलभाष : 7257805595

पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने अस्तित्व को बनाए रखने में कामयाब है। अमेरिका में राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ चुकी हिलेरी क्लिंटन ने इ सन्दर्भ में कहा है कि "जब तक महिलाओं की आवाज नहीं सुनी जाएगी तब तक लोकतन्त्र नहीं आ सकता। जब तक महिलाओं को अवसर नहीं दिया जाता तब तक सच्चा लोकतंत्र नहीं हो सकता।" अन्तर संसदीय संघ (इन्टर पार्लियामेण्ट यूनियन) के अनुसार विश्वभर की संसद में सिर्फ 17.5 प्रतिशत महिलाएँ है। अधिकांश पुरुष सांसद महिला सशक्तिकरण की बात जरूर करते हैं पर समाज की 'आधी आबादी' के लिए त्याग करने के लिए तैयार नहीं है। उस मुद्दे पर राजनीतिक दलों की कथनी और करनी में अन्तर दिखता है। कानूनी रूप से आरक्षण में सहयोग करना हो दूर राजनीतिक दल महिलाओं को जयादा से ज्यादा टिकट देना भी नहीं चाहते हैं, जब ज्यादा से ज्यादा टिकट देना भी नहीं चाहते हैं, जब ज्यादा से ज्यादा टिकट देंगे तभी महिलाओं की संख्या संसद में बढ़ेगी। जब हम महिलाओं की समानता की बात करते हैं तो यह भूल जाते हैं कि किसी भी वर्ग में समानता के लिए सबसे पहले अवसरों की समानता का होना बेहद जरूरी है। आज स्थिति यह है कि जितनी भी महिलाओं को राजनीति के निचले पायदान से ऊपरी पायदान पर पहुँचने में जब भी मौका मिला, उन्होंने अपनी योग्यता और क्षमताओं का बेहतर प्रदर्शन किया है।

1945 में दुनिया में केवल 26 संसदें थी उनमें महिला सांसदों की संख्या मात्र 3 प्रतिशत थी। 1995 में संसदों की संख्या 176 हो गई, परन्तु महिला सांसदों की संख्या में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई। उस समय विश्व के सभी संसदों में महिला सांसदों की संख्या 11.6 प्रतिशत के लगभग थी। बाद के वर्षों में 3 प्रतिशत संसदों की वृद्धि तो हुई परन्तु महिला सांसदों की संख्या में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। विश्व के महादेशों में महिलाओं का नेशलन पार्लियामेण्ट में भागीदारी एक जैसी नहीं है। सभी महादेशों की भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक, भाषाई, नस्ल लिंग आदि की स्थिति अलग–अलग रहने के कारण इसका जनप्रतिनिधियों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसके साथ–साथ समसामयिक गतिविधियों तथा विश्व पैमाने पर ज्वलन्त मुद्दा भी कम मायने नहीं रखत है। विश्व के महादेशों के दोनों सदनों में निम्नलिखित आधार पर पर महिलाओं के प्रतिनिधित्व का आकलन किया जा सकता है–

महादेश	**निम्न सदन**	**उच्च सदन**	**संयुक्त सदन**
अमेरिका (उत्तरी और दक्षिणी)	28.9%	29.7%	29.0%
यूरोप (ओ.एस.सी.ई. सदस्य देश)	27.6%	27.0%	27.5%
सब सहारन अफ्रीकी देश	23.7%	27.7%	27.6%

एशिया	19.8%	17.7%	19.2%
अरब राज्य	18.0%	12.6%	17.2%
प्रशान्त महासागरीय देश	15.6%	37.1%	18.0%

Regions are classified by descending order of the percentage of women in the Lower or Single House.

स्त्रोत: Inter Parliamentary Unions-2018

विश्व के कुछ प्रमुख संसदों में महिला सांसदों पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं करवांडा में 38.5 प्रतिशत, फ्रांस में 32.2 प्रतिशत, पाकिस्तान में 19.2 प्रतिशत, अमेरिका में 23 प्रतिशत, रूस में 18.1 प्रतिशत, जापान में 20.7 प्रतिशत, श्रीलंका में 5.3 प्रतिशत, नेपाल में 37.3 प्रतिशत, ऑस्ट्रेलिया में 39.5 प्रतिशत, ब्राजिल में 14.3 प्रतिशत तथा भारत में 11.5 प्रतिशत है। विश्व में करीब 193 ऐसे देश हैं, जहाँ जन प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन व्यवस्था संचालित हो रहे हैं। कुछ राष्ट्रों को छोड़कर सभी राष्ट्रों में द्विसदनात्मक शासन व्यवस्था है। वर्तमान समय में विश्व के दस प्रमुख देशों के अध्ययन से पता चलता है कि महिलाओं का प्रतिनिधित्व हाल के वर्षों में बढ़ा है, उनकी राजनीतिक चेतना तथा नेतृत्व शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, जिसका असर दुनिया के अन्य राष्ट्रों पर पड़ रहा है। उसे निम्न रूप में देखा जा सकता है– प्रतिशत, श्रीलंका में 5.3 प्रतिशत, नेपाल में 37.3 प्रतिशत, ऑस्ट्रेलिया में 39.5 प्रतिशत, ब्राजील में 14.3 प्रतिशत तथा भारत में 11.5 प्रतिशत है। विश्व में करीब 193 ऐसे देश हैं, जहाँ जन प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन व्यवस्था संचालित हो रहे हैं। कुछ राष्ट्रों को छोड़कर सभी राष्ट्रों में द्विसदनात्मक शासन व्यवस्था है। वर्तमान समय में विश्व के दस प्रमुख देशों के अध्ययन से पता चलता है कि महिलाओं का प्रतिनिधित्व हाल के वर्षों में बढ़ा है, उनकी राजनीतिक चेतना तथा नेतृत्व शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, जिसका असर दुनिया के अन्य राष्ट्रों पर पड़ रहा है। उसे निम्न रूप में देखा जा सकता है–

रैंक		निम्न सदन			उच्च सदन		
	देश	कुल सीट	महिला	प्रतिशत	कुलसीट	महिला	प्रतिशत
1.	रवांडा	80	49	61.3%	26	10	38.5%
2.	क्यूबा	605	322	53.2%	-	-	-
3.	वोलिविया	130	69	53.2%	36	17	47.2%
4.	ग्रेनाडा	15	7	46.7%	13	2	15.4%
5.	नामीबिया	104	48	46.2%	41	10	24.4%
6.	निकारगुआ	92	42	45.7%	-	-	-

7.	कोस्टारिका	57	26	45.6%	-	-	-
8.	स्वीडन	349	152	43.6%	-	-	-
9.	मैक्सिको	500	213	42.6%	128	47	36.7%
10.	द. अफ्रीका	394	167	42.4%	54	19	35.2%

उपर्युक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि निम्न सदन में महिलाओं की भागीदारी में मात्र तीन ही ऐसे देश (रवांडा, क्यूबा तथा वोलिविया) है जहाँ 50 प्रतिशत से अधिक स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। परन्तु उच्च सदन में कोई भी देश का प्रतिनिधित्व 47.2 प्रतिशत से अधिक नहीं है। विश्व में बनूआतू, पापुआ न्यू गिनी और माइकोनेशिया ऐसे देश हैं जहाँ एक भी महिला सांसद नहीं है, और जहाँ हैं उनमें सबसे पीछे यमन है वहाँ सिर्फ 0.3 प्रतिशत महिलाएँ संसद में है।

विश्व के 50 देशों में महिला सांसदों की कुल संख्या के 30 प्रतिशत से अधिक है। अब एशिया के दशों में महिलाओं की भागीदारी निम्नलिखित तालिका पर देखा जा सकता है :–

क्र सं.	एशिया के देश	कुल सीट	महिला सांसद	हिस्सेदारी
1	नेपाल	275	90	35.2%
2	चीन	2975	742	24.7%
3	बाँग्लादेश	350	72	20.7%
4	पाकिस्तान	341	69	19.2%
5	भूटान	47	07	16.0%
6	भारत	543	66	11.5%
7	म्यांमार	433	49	12.1%
8	श्रीलंका	255	12	5.3%

(चीन में जितनी महिला सांसद (742) है, उतनी विश्व के किसी भी देश में नहीं है परन्तु उतनी अधिक कुल सीट भी नहीं है।)

भारतीय संसद में महिलाएँ :

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश होने के बावजूद यहाँ की संसद में महिलाओं की भागीदारी बहुत कम है। भारत में महिलाओं की राजनीति भागीदारी के लिए आजादी के पहले से ही प्रयास किए जाते रहे हैं, फिर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सभी नागरिकों (पुरुष–महिला) को समान रूप संविधान के तहत् राजनीति में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन प्रश्न चुनाव को लेकर अब तक के हुए चुनावों में दोनों सदनों में महिला उम्मीदवारों की संख्या में लगातार वृद्धि तो हुई पर चुनाव परिणामों में उस रफ्तार में वृद्धि नहीं हुई है।

1952 में प्रथम लोकसभा के चुनाव में 22 सीटों पर महिलाएँ चुनकर आई थी, जबकि 2019 में हुए चुनाव में निम्न सदन में 78 महिलाएँ पहुँची। 1952 में लोकसभा में 4.4 प्रतिशत महिलाएँ थी जबकि 2019 के लोकसभा चुनाव में 14.3 जीत दर्ज कीं। विजय उम्मीदवारों की संख्या में तो बढ़ोत्तरी हुई, परन्तु अब भी वैश्विक औसत से लगभग 20 प्रतिशत महिलाएँ कम है। हालाँकि भारत के आम चुनावचों में महिला उम्मीदवारों की सफलता का विश्लेषण करने से पता चलता है कि यह पिछले चुनावों से बेहतर रहा हैं 16वीं लोक सभा के चुनाव में महिलाओं की सफलता दर 9 प्रतिशत से बढ़कर 17वीं लोक सभा में 14.3 प्रतिशत रहा जो पुरुषों की तुलना में ज्यादा है।

संसद के द्वितीय सदन राज्य सभा में भी लोकसभा की तरह महिला प्रतिनिधि की संख्या कम है। इस स्थायी सदन में 1952 से लेकर अब तक की स्थिति पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि प्रथम चुनाव में 15 सदस्य यानी 6.9 प्रतिशत महिलाएँ पहुँची तथा वर्तमान समय में 26 सदस्य यानी 10.83 प्रतिशत रही है। उच्च सदन में सबसे न्यूनतम 1970 में 14 अर्थात् 5.8 प्रतिशत थी और सबसे अधिकतर 2017 में 29 अर्थात् 11.8 प्रतिशत रहा है।

इस तरह स्पष्ट है कि भारतीय संसद के दोनों सदनों (लोक सभा और राज्य सभा) में महिलाओं की भागीदारी लगभग 12 प्रतिशत तथा 11.9 फीसदी है। भारत दुनिया के उन देशों में शामिल है जहाँ महिलाओं का संसद में प्रतिनित्व नगन्य है। भारतीय संसद में 11.5 प्रतिशत है और मैक्सिको में 60 प्रतिशत है, जबकि जर्मनी और ऑस्ट्रेलिया आदि देशों में करीब 40 प्रतिशत है। इससे साफ पता चलता है कि भारत में महिलाओं के उत्थान एवं विकास के लिए मुख्य धारा में शामिल करने हुतु प्रोत्साहन की आवश्यकता है।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी की तस्वीर आई.पी.यू. की 2015 के उद्यतन रिपोर्ट के अनुसार 2015 में दूसरी बार विश्व में महिला सांसदों की संख्या में न्यूनतम वृद्धि हुई है। 2013 में यह रफ्तार 1.5 थी। विश्व में संसदों में 22.6 प्रतिशत महिलाएँ हैं। हालाँकि यह आँकड़ा अब तक का सर्वाधिक है।

विश्व के संसदों में महिला आरक्षण :

विश्व में ऐसे कई देश हैं जहाँ संसद में महिलाओं को सर्वधानिक संशोधन या कानून में बदलाव के माध्यम से आरक्षण दिया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ देशों ने महिलाओं की सत्ता में भागीदारी के लिए प्रारम्भ से आक्षण का प्रावधान किया है, तो कुछ सियासी दल अपने तौर पर ही महिलाओं को प्रतिनिधित्व देते हैं। भारत एक ऐसा देश है जहाँ लोकतन्त्र तो है परन्तु महिलाओं

को संसद में भागीदारी के लिए आरक्षण की व्यवस्था नहीं है।

स्वीडन के इन्टरनेशनल इंस्टीच्युट फॉर इलैक्ट्रोरल एसिस्टेंस के अनुसार कई ऐसे देश हैं जहाँ राजनीतिक दलों ने ही पहल करते हुए महिलाओं के लिए टिकट देते समय कोटे की व्यवस्था की है, परन्तु इसी सस्था के आँकड़े बताते हैं कि चीन, श्रीलंका और म्यांमार में महिलाओं को आरक्षण नहीं दिया गया है, अन्य एशियाई देशों में इण्डोनेशिया, किर्गिस्तान और उजबेकिस्तान में महिलाओं के लिए 30 फीसदी सीटें आरक्षित की गई है।

यूरोप के आठ देशों में महिलाओं की संसद में भागीदारी तय करने के लिए कोटे की व्यवस्था की गई है। इनमें पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस शामिल है जबकि स्वीडन एक अलग तरह का सिस्टम अपनाए हुए है। जर्मनी, ब्रिब्टेन सहित 14 यूरोपीय देश के राजनीतिक दलों ने ही महिलाओं के लिए कोटे की व्यवस्था की है। ऑस्ट्रेलिया और कुछ अन्य पश्चिमी देशों में भी यहीं सिस्टम है।

कजाकिस्तान और तुर्क मेनिस्तान में महिलाओं के लिए कोटे की व्यवस्था नहीं है, लेकिन दोनों देश लैंगिक असमानता को दूर करने के लिए कदम उठा रहे हैं। अफ्रीकी देश भी इस दिशा में पीछे नहीं है। यूगांडा में महिलाओं का राजनीतिक प्रतिनिधित्व बढ़ाने की कोशिश की गई है जो रंग लाई है। रवांडा को संसद में 30 फीसदी, नाइजेर में 10 प्रतिशत सीटें आरक्षित है जबकि सूडान में महिलाओं के लिए 443 में से 60 सीटें निर्धारित की गई है। लातिन अमेरिका के 4 देशों के संविधान में महिलाओं को राजनीतिक प्रतनिधित्व देना सुनिश्चित किया गया है।

रिपोर्ट एजेनिसयां एण्ड गौड़ सम्पादन : एम. गोपाल कृष्णन
https.llm.dw.com/hi/a-5337065

महिलाओं को सत्ता में भागीदारी के मामले में सबसे अग्रणी देश पश्चिमी यूरोपीय देश या कोई अन्य विकसित देश नहीं बल्कि पूर्वी मध्य अफ्रीकी देश रवांडा हैं जहाँ पिछले चुनावों में 63 फीसदी महिलाओं ने जीत का परचम लहराया है। यह दूसरी बात है कि वहाँ1990 क दशक में भयानक नस्लीस हिंसा में लगभग आठ लाख लोग मारे गए तथा एक दशक तक गृह–युद्ध चलते रहने के कारण युद्ध में अधिकतर पुरुष मारे गए। जिसके कारण महिलाओं की संख्या 70 प्रतिशत हो गई। इतनी बड़ी संख्या के बावजूद संसद में महिलाओं की भागीदारी 10–15 फीसदी तक सीतिम रही। इस लैंगिक विषमता को मिटाने के लिए रवांडा सरकार ने 2003 में नया संविधान लागू किया जिसमें देश की संसद में महिलाओं के 30 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान रखा गया था। उसी वर्ष चुनाव में वहाँ 48 फीसदी महिलाएँ चुनकर संसद पहुँची थी उसके बाद 2013 के चुनाव में यह आँकड़ा 64 फीसदी तक पहुँच गया।

विश्व शान्ति के लिए काम करनेवाली जेनेवा स्थित संस्था (इन्टर पार्लियामेन्ट्री यूनियम) आई.पी.यू. के ताजा आँकड़ों और रैकिंग के लिहाज से महिलाओं के प्रतिनिधित्व के मामले में रवांडा पहले स्थान पर है। इस आँकड़ों के मुताबिक संसद में दुनिया भर के निचले सदनों में 40 फीसदी से अधिक रहे संख्या वाले दशों में केवल 11 देश शामिल है। इन देशों में केवल तीन यूरोपीय देश हैं और इन तीनों देशों ने दलीय स्तर पर महिलाओं की उम्मीदवारी सुनिश्चित कर रखी है। रवांडा के बाद दूसरे स्थान पर दक्षिण अमेरिकी देश कोलंबिया है वह भी मूल निवासी के आन्दोलन की वजह से काफी चर्चा में रहा। राष्ट्रपति इवो मोरैलस के सत्ता में आने के बाद उन्होंने संसद में महिलाओं को तरजीह दी। उस प्रावधान का सकारात्मक नतीजा भी निकला और 5.3 फीसदी महिलाएँ संसद में चुनकर आ गईं।

इसी तरह वालिविया को संसद में महिलाओं की भागीदारी 48 फीसदी है। यहाँ एक देश, एक पार्टी का तन्त्र है, परन्तु फिर भी यहाँ सत्ता में महिलाओं भागीदारी पुरुषों के समान है। वैसे भी सामाजिक हैसियत के मामले में क्यूवा हमेशा अन्य देशों से आगे रहा है। सामाजिक हैसियत की रैंकिंग की सूची में 142देशों में 18वें स्थान पर है। यूरोपीय देशों में आइसलैंड एक ऐसा देश है, जहाँ महिलाओं की भागीदारी सबसे अधिक है, वहाँ की संसद में 47 फीसदी महिलाएँ हैं। यह एक बड़ी उपलब्धि है क्योंकि इस देश में महिलाओं के लिए अलग से आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं है। इसके अतिरिक्त निकारगुआ, मैक्सिको, दक्षिण अफ्रीका और नामीबिया जैसे विकासशील देशों में महिलाओं की भागीदारी 40 फीसदी से अधिक महिलाओं की भागीदारी है। इन 11 देशों में किसी न किसी रूप में आरक्षण लागू है। जैसे मैक्सिको, फिनलैण्ड, आइसलैण्ड और स्वीडन में राजनीतिक दल अपने तौर पर महिलाओं का प्रतिनिधित्व देते हैं, जबकि बाकी के सभी सात देशों की संसद में प्रत्यक्ष रूप से आरक्षण लागू है।

पड़ोसी देशों की स्थिति :

पड़ोसी देशों (पाकिस्तान, बांग्लादेश और नेपाल) में महिलाओं के लिए संसद में सीटें आरक्षित की गई हैं। पाकिस्तान की नेशनल असेम्बली की 342 सीटों में से 60 सीटें (यानी 17.5 फीसदी) महिलाओं के लिए आरक्षित की गई है। पाकिस्तान के चुनाव अधिनियम 2017 की धारा 206 के मुताबिक सभी दलों को महिलाओं के लिए 5 फीसदी से कम महिला की भागीदारी हुई, तो चुनाव प्रक्रिया को ही निरस्त कर दिया जाएगा। बांग्लादेश में 2004 में संविधान में संशोधन कर महिलाओं के लिए कोटे की व्यवस्था की गई है। वहाँ की संसद में सीटों की संख्या बढ़ाकर 345 कर दी गई जिसमें 45 सीटें (लगभग 13 फीसदी) आरक्षित

है। इसी तरह नेपाल में भी 33 फीसदी आरक्षण की व्यवस्था की गई है। वैसे भारत में भी 33 फीसदी आरक्षण सम्बन्ध विधेयक राज्यसभा में तो पास हो चुका है परन्तु लोक सभा से सभी तक पास नहीं हुआ है।

भारत में महिला आरक्षण :

भारत में महिला आरक्षण सबसे गम्भीर मुद्दा है। पहली बार 1974 में संसद में महिलाओं के प्रतिनिधित्व का मुद्दा भारत में महिलाओं के आकलन सम्बन्धी समिति की रिपोर्ट में उठाया गया था। वैसे 1993 में संविधान में 73वें और 74वें संशोधन के तहत पंचायतों और नगरपालिकाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था नहीं है।

1996 में महिला आरक्षण विधेयक को पहली बार एच.डी. देवगौड़ा सरकार ने 81वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में संसद में पेश किया। लेकिन देवगौड़ा सरकार अल्पमत में आ गई और 11वीं लोकसभा को भंग कर दिया गया। फिर 1996 का विधेयक भारी विरोध के बीच संयुक्त संसदीय समिति के हवाले कर दिया गया। समिति के अध्यक्ष गीता मुखर्जी ने दिसम्बर, 1996 में रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। उसके बाद एन.डी.ए. सरकार द्वारा 1998,1999 तथा 2002 में भी यह बिल प्रस्तुत किया गया। हर समय इसका उग्र विरोध हुआ। 2003 में अटल बिहारी वाजपेयी सरकार द्वारा फिर दो बार इस विधेयक को लाने की असफल कोशिश की गई, लेकिन सर्वसम्पति बनाने के नाम पर इसे टाल दिया गया। 2005 में फिर यू.पी.ए. सरकार द्वारा इस बिल को लाया गया परन्तु कुछ प्रगति इसमें नहीं हुई। 2008 में मनमोहन सिंह सरकार ने लोक सभा और विधान सभाओं में 33 प्रतिशत महिला आरक्षण से जुड़ा 108वाँ संविधान संशोधन विधेयक राज्यसभा में पेश किया। इसके दो साल बाद 2010 में तमाम राजनीतिक अवरोधों को दरकिनार कर राज्यसभा से यह विधेयक पारित करा दिया गया। कांग्रेस को बी.जे.पी. और वाम दलों के अलावा कुछ और अन्य दलों का साथ मिला। लेकिन लोक सभा में 262 सीटें होने के बावजूद मनमोहन सिंह सरकार विधेयक को पारित नहीं करा पाई। उसके बाद यह लोक सभा में नहीं प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक का विरोध करनेवालों का कहना है कि दलित और ओ.बी.सी. महिलाओं के लिए कोटा होना चाहिए। नेतागण सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से पिछड़ी महिलाओं के लिए महिला आरक्षण के भीतर आरक्षण की माँग करते हैं, क्योंकि इस वर्ग की महिलाओं का शोषण अधिक होता है। इसके बाद यह भी तर्क है कि इस विधेयक से केवल शहरी महिलाओं का प्रतिनिधित्व की संसद में बढ़ पाएगा। इसके बावजूद किसी भी दल से महिला उम्मीदवारों को चुनाव में उस अनुपात में नहीं उतारा जाता, जिससे उनका प्रतिनिधित्व बेहतर हो सके।

भारत में अभी भी आधी आबादी अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित है। आज आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जाए। यहाँ राजनीति में महिलाओं की भागीदारी कम होने का कारण समाज में पितृसत्तात्मक ढाँचे का मौजूद होना है। ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि चुनावों के विभिन्न स्तर पर महिलाओं की भागीदारी का विश्लेषण किया जाए ताकि महिलाएँ समाज की मुख्य धारा से वंचित न रहे। राजनीतिक वर्ग का भेदभावपूर्ण रवैया बदला जाए। संसद में महिलाओं को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

अतः संसद में महिलाओं को उचित प्रतिनिधित्व के लिए महिला आरक्षण जरूरी है क्योंकि पंचायतों और स्थानीय निकायों में आरक्षण का प्रावधान किए जाने पर उसकी भागीदारी बढ़ी है। यह देश के लिए बड़ा सन्देश होगा और साथ ही महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक बड़ी परम्परा की शुरुआत होगी।

विश्व और भारत के संसदों में महिलाओं की भागीदारी के अवलोकनोपरान्त हम पाते हैं कि विश्व के संसदों में ऐसी अनेक महिलाएँ थीं जिनकी भागीदारी तथा जिनका व्यक्तित्व–कृतित्व इतना महत्त्वपूर्ण रहा कि न सिर्फ अपने देश में बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना तथा अपने देश का गौरव बढ़ाया है। श्रीमती सिरिमाओ भण्डारनायक (श्रीलंका) विश्व की पहली की पहली महिला प्रधानमन्त्री, गोलडा मायर (इजरायल), मारग्रेट थैचर (ब्रिटेन) तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी भारत की पहली महिला प्रधानमन्त्री बनीं। श्रीमती प्रतिभा देवी सिंह पाटिल भारत की पहली राष्ट्रपति तथा चन्द्रिका कुमार तुंगा श्रीलंका की राष्ट्रपति बनी। श्रीमती मीरा कुमार भारत की पहली महिला लोकसभा अध्यक्ष बनीं। फिर भारत की प्रथम महिला थी जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था की अध्यक्षा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस तरह ऐसी अनेक महिलाएँ हैं जिन्होंने अकेले लड़ाइयाँ लड़कर अलग पहचान बनाई है। वे अपने पुरुष सहकर्मियों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ीं और एक इतिहास रचा। उनकी कृति और शौर्य से न सिर्फ विश्व की सभी महिलाएँ सशक्त हुई है बल्कि सम्पूर्ण नारी जाति को इन पर गर्व है, आज वे सभी प्रेरणा के स्त्रोत हैं।

■

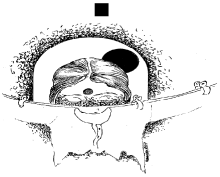

महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया में संविधान का योगदान

प्रो. शैलेन्द्र सिंह

स्त्री का मानव की सृष्टि में ही नहीं वरन् समाज निर्माण में भी महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि स्त्री और पुरुष मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं। अनेक परिवारों से समुदाय और अनेक समुदायों से मिलकर एक समाज निर्मित होता है। यदि हम विश्व इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह पता चलता है कि संस्कृति की नींव डालने का श्रेय सर्वप्रथम स्त्री को ही दिया जाता है परन्तु स्त्री की प्रस्थिति सभी समाजों में एक समान नहीं रही हैं। जिस तरह परिवार में स्त्री व पुरुष के कार्य व प्रस्थिति भिन्न–भिन्न होती हैं उसी तरह समाज में भी स्त्री और पुरुष के कार्य व प्रस्थिति में भिन्नता पायी जाती है। किसी समाज में यदि स्त्रियों को पुरुषों के बराबर का दर्जा दिया जाता है तो किसी समाज में उसे पुरुष की तुलना में बहुत कम अधिकार प्राप्त होते हैं।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति

प्रत्येक युग में नारी की स्थिति युग के अनुरूप परिवर्तित होती दिखाई देती है। अधिकांश समाजों में प्राचीनकाल में पत्नी और नारी की स्थिति बहुत सोचनीय थी किन्तु वैदिक कालीन शिक्षा साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि हिन्दू परिवार के सबसे पुराने काल वैदिक युग में स्त्रियों की दशा अत्यन्त उन्नत थी। हिन्दू समाज में स्त्रियों का सम्मान और आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त रहा है उसके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्र द्धा रही है। प्राचीन काल में पुरुषों के समान स्त्रियों को भी शिक्षा पाने का पूर्ण अधिकार था।

मनु के कथनानुसार 'पुरुष–नारी, स्वदेह तथा सन्तान ये तीनों मिलकर ही पुरुष पूर्ण होता है। इसलिये स्त्री पुरुष की अर्धांगिनी मानी गई है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ–साथ स्त्रियों की स्थिति में भी अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। प्रो. इन्दू ने अपने वक्तव्य में स्पष्ट लिखा है कि ''कुंवारी स्त्रियों की शिक्षा को समाज में आवश्यक कानूनों, सुरक्षाचक्र प्रावधानों और उनके भली–भांति क्रियान्वयन हेतु सक्षम प्रशासनिक सुरक्षात्मक प्रावधानों और उनके भली–भांति क्रिया–कलापों

संपर्क – विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, जे0 एस0 विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद, उ0प्र

का होना आवश्यक है। सशक्तिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके से किसी भी समाज, वर्ग, समुदाय, समूह, जाति, धर्म आदि के उन असहायों को विशेष सुविधा, विशेष कानून, आदि के माध्यम से सशत बनाती है। इसके निम्नलिखित आयाम हो सकते हैं–शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक न्यायिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, निर्णयात्मक, सामाजिक आदि। अर्थात हम कर सकते हैं कि सशक्तिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से अशक्तों को सशक्त बनाया जाता है।

महिला सशक्तीकरण

महिला सशक्तिकरण से तात्पर्य एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया से है, जिसमें महिलाओं के लिये सर्वसंपन्न और विकसित होने हेतु संभावनाओं के द्वार खुलें, नये विकल्प तैयार हों, भोजन, पानी, घर, शिक्षा स्वास्थ्य सुविधाएँ, शिशुपालन, प्राकृतिक संसाधन, बैंकिग सुविधायें, कानूनी हक और प्रतिभाओं के विकास हेतु पर्याप्त रचनात्मक अवसर प्राप्त हों। महिला सशक्तिकरण माप करने हेतु इसके अन्तर्गत सामान्य तौर पर निम्नांकित नौ तत्वों को सम्मिलित किया जाता है।

1, संसद व विधानमंडलों में महिलाओं की भागीदारी।
2. प्रशासन एवं प्रबंधन में उनकी भागीदारी।
3. प्रोफेशनल एवं तकनीकी सेवाओं में उनकी भागीदारी।
4. महिलाओं की प्रति व्यक्ति आमदनी और उनकी तुलनात्मक आर्थिक स्थिति
5. शैक्षिक भागीदारी।
6. स्वास्थ्य संबंधी स्थिति।
7. देशाटन की सुविधा।
8. निर्णय का अधिकार।
9. सत्ता के साथ–साथ संपत्ति में पुरुषों के बराबर उनका हक आदि

महिला सशक्तीकरण के उद्देश्य–

महिला सशक्तीकरण के निम्नलिखित उद्देश्य हैं

1. सामाजिक सुविधाओं की उपलब्धता।
2. राजनैतिक एवं आर्थिक निर्धारण में भागीदारी।
3. समान कार्य के लिए समान वेतन।
4. कानून के तहत सुरक्षा।
5. प्रजनन का अधिकार।

महिलाओं के विकास में बाधक तत्व

1. अशिक्षा।
2. गरीबी।
3. बेरोजगारी।
4. धार्मिक कारक।
5. घर से विद्यालय की दूरी ज्यादा होना।

6. लड़कियों के संग अनहोनी होने का भय।
7. जागरूकता की कमी।
8. अनपढ़ माता–पिता।
9. सामाजिक माहौल।
10. परिवार की नकारात्मक सोच।
11. जल्द विवाह।
12. कम उम्र में बच्चे पैदा होना।
13. अत्यधिक घरेलू बोझ।
14. लड़कियों पर पारिवारिक जिम्मेदारियाँ ।
15. अज्ञानता।
16. शोषण।
17. आर्थिक रूप से निर्भरता

महिला सशक्तिकरण की आवश्यकता

1. समाज के विकास हेतु।
2. परिवार के विकास हेतु।
3. आर्थिक सम्पन्नता हेतु।
4. राजनीतिक सहभागिता हेतु।
5. सामाजिक जागरूकता हेतु।
6. समाज के सतत् विकास हेतु।
7. लैंगिक समानता हेतु।
8. शोषण से मुक्ति हेतु।
9. नारी विकास हेतु।
10. स्वास्थ्य समस्याओं की मुक्ति हेतु।
11. स्वास्थ्य समस्याओं की मुक्ति हेतु।
12. शैक्षिक विकास हेतु।
13. बच्चों के सलीके से पालन–पोषण हेत।

महिलाओं के सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियम

भारतीय संविधान में वर्णित अधिकार महिला सशक्तिकरण के पार के वह पत्थर हैं जो हर समय उनका मार्ग प्रसस्त करते हैं। 'भय विनु होय न प्रीती के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इन संवैधानिक प्रावधानों के तहत इनका उल्लंघन कर वाले को दण्ड की भी व्यवस्था है। भारतीय संविधान में वर्णित दण्ड का प्रावधान सुधारवादी सिद्धान्त पर आधारित है। प्रमुख संवैधानिक प्रावधान निम्नलिखित हैं।

संवैधानिक प्रावधान

अनुच्छेद–14 विधि के समक्ष समता

राज्य, भारत के राज्य, क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समझ समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।

अनुच्छेद–15 धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिशेध

अनुच्छेद–16 लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता

अनच्छेद–19 वाक्–स्वातंर्त्य आदि विषयक कुछ अधिकारों का सरक्षण

अनच्छेद–21: प्राण और दैहिक स्वतन्त्रता का संरक्षण

21(क) शिक्षा का अधिकार

राज्य छह (6) वर्ष से चौदह (14) वर्ष तक की आयु वाले सभी बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का ऐसी रीति में, जो राज्य विधि द्वारा, अवधारित करे, उपबन्ध करेगा।

अनुच्छेद 39य राज्य द्वारा अनुसरणीय कुछ नीति तत्व

राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया, इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से

(क) पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन हो। (ड) पुरुषों और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागारकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों।

अनच्छेद 39 (क) सामान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता

अनुच्छेद 42 काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का सहायता का उपबन्ध

राज्य काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सनिश्चित लिए और प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करेगा।

अनुच्छेद 43 कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि

अनुच्छेद–43 (क): उद्योग के प्रबन्धन में कर्मकारों का भाग लेना सुनिश्चित करना।

अनुच्छेद 44 नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता का लागू किया जाना।

अनुच्छेद 325: धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधार पर किसी व्यक्ति का निर्वाचन नामावली में सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र न होना और उसके द्वारा किसी विशेष निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किए जाने का दावा न किया जाना।

महिलाओं के सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियम

महिलाओं के सरक्षा सम्बन्धी अधिनियम सशक्तीकरण में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं क्योंकि यदि दण्ड का भय न हो तो शायद समाज में सामाजिक नियमों, कानूनों आदि का उल्लंघन लोग सरे आम करने लगेंगे जिससे सामाजिक

विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और सामाजिक विकास की प्रक्रिया मंद पढ़ सकती है। महिलाओं के सुरक्षा सम्बन्धी कुछ अधिनियम निम्नलिखित हैं।

1. बागान श्रम अधिनियम, 1951 : बागान श्रम अधिनियम, 1951 को

2. कर्मचारी राज्य बीमा विनियमन अधिनियम, 1952 :

3. खान अधिनियम, 1952 :

4. बीडी एवं सिगार कर्मकार अधिनियम 1966 :

5. प्रसूति सुविधा अधिनियम 1961 :

6. दहेज निषेध अधिनियम 1961 (संशोधन 1986) : दहेज निषेध अधिनियम के अन्तर्गत दहेज लेना एवं देना दोनों पक्षों पर रोक लगाता है। जबरन दहेज देने के लिए विवस करने पर कारावास की व्यवस्था भी की गयी है।

7. ठेका श्रमिक अधिनियम, 1970 : इस अधिनियम का उद्देश्य महिला श्रमिकों से बागानों में प्रातः' 6.00 बजे से शाम 7.00 बजे के बीच 9 घण्टे से अधिक काम लेने पर रोक लगाना है।

8. चूना पत्थर और डोलोमाइट खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम 1972 : महिलाओं के हितों की रक्षा हो सके इस हेतु अधिनियम के अन्तर्गत नियुक्त सलाहकार समिति में एक महिला सदस्य की नियुक्ति को आवश्यक बनाया गया है।

9. लोह, मैगनीज एवं अयस्क खान, श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम 1976 : इन अधिनियमों के अन्तर्गत नियुक्ति सलाहकार समिति में एक महिला सदस्य की नियुक्ति को आवश्यक बनाया गया है।

10. बीड़ी कर्मकार कल्याण निधि अधिनियम 1976 : इन अधिनियमों के अन्तर्गत सलाहकार समिति में एक सदस्य की नियुक्ति को आवश्यक बनाया गया।

11. समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 : महिला कल्याण में यह अधिनियम काफी प्रभावी है। इसका प्रमुख उद्देश्य समान की भी पुरुषों के समान कार्य हेतु पुरुषों के समान पाकि
गये हैं।

12. बाल विवाह निषेध अधिनियम 1976 : कम आयु में बालिकाओं (बालकों सहित) के विवाह पर रोक लगाने के लिए सरकार ने व्यवस्था की है।

13. स्त्री अशिष्ट निरूपढ़ निषेध अधिनियम 1986 : इसके अश्लील प्रदर्शन पर रोक लगा दी गयी है।

14. वेश्यावृत्ति निवारण (संशोधन) अधिनियम, 1986 : इसका उद्धेश्य महिलाओं को अनैतिक कार्यों में उपयोग करने पर रोक लगाने

15. सती निषेध अधिनियम 1987 : महिलाओं के सती होने पर रोक लगाने के लिए।

16. 78वाँ 74 वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1993 : महिलाओं को ग्रामीण एवं नगरीय स्वायत्व संस्थाओं में एक तिहायी आरक्षण प्रदान करने के लिए।

17. प्रसव पूर्व निदान तकनीक अधिनियम 1994 : गर्भावस्था में बालिका भरण की पहचान कराने पर रोक लगाने के लिए के प्रावधान है।

18. राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम : राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम 1990 की धारा 3 में राष्ट्रीय महिला आयोग के गठन से सम्बन्धित प्रावधानों का वर्णन किया गया है।

19. विशेष विवाह अधिनियम 1954 : इसके अन्तर्गत किसी भी जाति, धर्म का 18 वर्ष की लड़की तथा 21 वर्षीय लड़के को विवाह करने का अधिकार है। इसके लिए वे विवाह के दौरान किसी भी मान्य वैधानिक विवाह विधि का सहारा ले सकते हैं।

20. हिन्दू विदाह अधिनियम 1955 : इसके अन्तर्गत हिन्दू विवाह नियम सप्तपदी आदि के द्वारा विवाह सम्पन्न किया जाता है। विवाह विच्छेद तभी संभव है यदि पति जारकर्म का दोषी पाया जाये, या पागल हो, या धर्म परिवर्तन कर लिया हो, या 7 साल से अधिक समय से लापता हो एव असाध्य रोगों से ग्रसित हो।

महिलाओं सम्बन्धी अन्य कानून

1. दहेज मृत्यु धारा–304 बी
2. अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम 1956
3. स्त्री अशिष्ट रूपण (प्रतिशेध) अधिनियम – 1986
4. बाल विवाह अवरोध अधिनियम, 1929
5. औषधि द्वारा गर्भ समाप्ति सम्बन्धी अधिनियम 1971
6. चलचित्र अधिनियम, 1952
7. दहेज प्रतिशोध अधिनियम, 1961
8. विशेष विवाह अधिनियम, 1954
9. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956

निष्कर्ष–

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया में संविधान का महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि संविधान में वर्णित नियमों के कारण दंड का प्रावधान है और दंड का भय से व्यक्ति गलत आचरण करने से डरता है जिससे महिला सुरक्षा संभव हो सकी है और महिला सशक्तिकरण की प्रकिया तेज हो गयी है।

सन्दर्भ सूची –

1. कुरूक्षेत्र, 1998 ग्रामीण विकास मंत्रालय दिल्ली पृ.सं–3,7
2. ओझा एस0 एन0 भारतीय सामाजिक समस्याएँ क्रानिकल बुक्स, नई दिल्ली।
3. व्होरा आशारानी, स्त्री सरोकार आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली।
4. सिंह, प्रो0 शैलेन्द्र, भारत में महिला सशक्तीकरण की दशा एवं दिशा।

■

साहित्य

तुलसीदास की दोहावली में मानवीय मूल्य

डॉ. मधुछन्दा चक्रवती

गोस्वामी तुलसीदास भक्तिकाल के उन महान कवियों में से एक हैं जिन्होंने जन–मानस के मन में भक्ति की अलख जगाकर समाज को एक नई दिशा प्रदान की। उनकी समन्वयवादी रचना, उत्तम विचार तथा भक्ति की तललीनता ने न केवल उस समय के लोगों को भक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट किया बलिक आज भी उनके द्वारा लिखित रचनाओं को जो कोई भी पढ़ता है तो वह स्वयं ही भक्ति से परिपूर्ण संसार में अपने–आप ही चला जाता है। एक कवि के लिए इससे बड़ी सफलता की बात और क्या होगी यदि उसकी रचना पढ़कर पाठक की लोकोत्तर चेतना जाग उठे और वह दिखाई देने वाले संसार में रहते हुए भी भक्ति भावना से समृद्ध रचना के द्वारा वह ईश्वर के समीप होने का आनन्द पा सके।

मानव मूल्य का अर्थ क्या है?

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य को जीने के लिए संघर्ष करना पड़ा है। इन संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य को मिलजुल कर रहने एवं एकृतरहने की प्रयोजनियता का अनुभव हुई। मनुष्य तथा प्राणी जीवन काल की सीमाबद्धता, अनिश्चयता एवं प्रकृति की अप्रतिरूद्ध क्षमता के सामने मनुष्य की शक्ति को तुच्छता के ज्ञान से मनुष्य के मन में भय तथा संभ्रम का उदय हुआ। प्रकृति के इस अदम्य शक्ति के सामने मनुष्य का आत्म समर्पण करने के सिवा और कोई उपाय नहीं था। मनुष्य की यह धारणा हुई कि अदम्य शक्ति का नियंत्रणकर्ता ही इस संसार का सृष्टिकर्ता है। अतः मनुष्य ने सृष्टिकर्ता को तुष्ट करने के लिए उनके आगे आत्मसमर्पण किया। इस आत्मसमर्पण की भावना को भक्ति कहते हैं। साथ–ही–साथ मनुष्य ने यह भी देखा कि एक सुश्रृंखल एवं नियमानुवर्तित समाज के बिना मानव के कल्याण तथा प्राकृति विपर्यय से भी अपने–आप की रक्षा करना कठिन है। इस प्रकार धीरे–धीरे सामाजिक जीवन की सृष्टि हुई। सामाजिक जीवन में जीना और दूसरों को जीने देना, इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति के गुण को ही मानव–मूल्य कहा जाता

संपर्क – – सहायक प्रो., हिन्दी विभाग, मॉउन्ट कार्मल कॉलेज, ऑटोनोमस, बंगलोर –58, पैलेस रोड, बंगलोर –56002, मो–8217797073, E-mail : madhuchanda.chakrabarty@gmail.com

है। इसमें प्रथम मूल्य है अपनापन। अपनेपन के बिना सहनशीलता नहीं जन्म लेती है। परन्तु यही सबसे बड़ी विषय–वस्तु है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात है कि आज के समय में लोग जानते समझते हुए भी अनदेखा कर देते हैं परन्तु यह सत्य है कि हम अपनो की किसी भी बात का बुरा नहीं मानते, अपनो की बातों को अच्छी तरह समझते भी है तथा अपनो द्वारा दिए गए परामर्श को भी अपना लेते हैं। लेकिन घर की सीमा या परिधि लांगने के बाद यह कुछ तक ही सीमित रह जाती है। दूसरों के मामले में यही अपनेपन का भाव नहीं रहता है। परन्तु जब समाज के सभी व्यक्तियों में यह अपनेपन की भावना घर के बाहर के लोगों के लिए भी रहेगी तभी सहनशीलता का गुण भी जन्मेगा और उस सहनशीलता से एक सुन्दर समाज की रचना हो सकेगी। सहनशीलता के बिना व्यक्ति समाज में अन्य व्यक्तियों का सुझाव या समाधान को जान नहीं पाता एवं ठिक सिद्धान्त ले नहीं पाता है, और इसके लिए दूसरा जरूरी मूल्य है सहनशीलता। यदि व्यक्ति समाज मे अन्य व्यक्तियों को अपना नहीं समझते हैं तो दूसरों के बात को सठिक मूल्य नहीं दे पाते हैं तथा प्रयोजनानुसार इन बातों का सदुपयोग नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार अपनेपन से सहनशीलता जन्मती है तथा उससे सामुहिक विचारधारा उत्पन्न होती है।

हर सिद्धान्त के पीछे एक ही बात होनी चाहिए 'जीने और जीने देना' जब व्यक्ति जीने और जीने देने का सिद्धान्त को अपना लेगा तब हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार जीवन को विकसित कर सकेगा। हमारे प्राचीन ऋषियों ने भी इसी अपनेपन की भावना को एक बहहुत सुन्दर उक्ति प्रदान की है, वह है 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' केवल एक नारा नहीं है बल्कि इसका वासतविक तात्पर्य है कि समग्र संसार को यदि अपना समझा जाय तो एक अपनापन जगेगा, एक भातृभाव का जन्म होगा और उसी से, जैसे हम अपने सगे की सहायता करते हैं, उसी प्रकार हम दूसरों की भी सहायता कर सकते हैं उन परिस्थितियों में जब जरूरत होगी। क्योंकि मानव जीवन ऐसा है जिसमें कभी–न–कभी परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो सकती है, अनेक समस्याएँ आती है जिसके बारे में हम पहले से कुछ नहीं कह सकते हैं। परन्तु मूल्य में अपनापन ही सबसे जरूरी बात है जिससे मनुष्य के मन में सहानुभूति, दया, माया, ममता, संवेदनशीलता का जन्म होता है। वही जब मानव–मूल्य किसी व्यक्ति के मन में जग जाता है तो फिर वह किसी भी परिस्थिति में अपना संयम खोये बिना भी न्याय कर पाता है।

भक्ति और मानव मूल्य का सम्बन्ध

भक्ति तथा मानव–मूल्य दोनों एक–दूसरे के परिपूरक है। जिसमें मानव–मूल्य नहीं है वह भक्ति मार्ग पर भी नहीं जा सकता। जिसने भक्ति का रास्ता चुना है वह अपने आप ही महा–मानव की भूमिका में आ जाता है तथा इनमें सारे मानव–मूल्य अपने–आप ही विकसित हो जाता है। क्योंकि भक्तिमार्गी

व्यक्ति हरेक प्राणी में सृष्टिकर्ता की शक्ति को अनुभव करने लगता है। अतः प्रत्येक प्राणी ही भक्ति मार्ग के लिए एक ही बिरादरी का हो जाता है। भक्ति तथा मानव–मूल्य की परिपूरकता को समझने के लिए रत्नाकर दस्यू का ऋषि वाल्मीकि में रूपायन एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। रत्नाकर जब तक दस्यू तब तक उसमें न मानव–मूल्य था न ही भक्ति भावना थी। परन्तु जब रत्नाकर ने नारद मुनि के उपदेश से भक्तिमार्ग में चलना शुरू किया तब मानव–मूल्य उनमें अपने आप ही विकसित हो गया। कालान्तर में वही प्रसिद्ध दस्यू रत्नाकर महाऋषि वाल्मीकि के रूप में प्रसिद्ध हुए।

तो यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति मानवता के रास्ते पर स्वतः ही चलने लगता है।

मानव–मूल्य की आवश्यकता

मानव–मूल्य की सबसे बड़ी आवश्यकता समाज तथा देश के लिए होती है। जिस समाज के लोगों में मानव–मूल्य होता है वह समाज सही रास्ते पर चलता है तथा उस देश का भी विकास होता है। जहां मानव–मूल्य नहीं होता वहाँ विकास नहीं केवल विनाश होता है।

तुलसीदास जी की रचना दोहावली में मानव–मूल्य

गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य में श्रीराम सबसे मुख्य विषय है। तुलसीदास जी भक्तिकाल के राम भक्ति शाखा के प्रमुख कवियों में से एक हैं। उनका समग्र साहित्य श्रीराम की भक्ति को समर्पित है। ये श्रीराम न केवल दशरथ पुत्र राम है बल्कि समस्त संसार का सृजन करने वाले राम है। अतः उनकी दोहावली में अंतर्निहित मानवीय मूल्य को जानने के लिए श्रीराम को जानना समझना बहुत आवश्यक है। श्रीराम को सदा से ही भगवान विष्णु का अवतार माना गया है। वे दशरथ पुत्र थे, अयोध्या के राजा थे, पूरे संसार को कष्ट पहुँचाने वाले रावण का नाश करने वाले, देवी सीता की रक्षा करने वाले तथा दुखियों के दुखों के दूर करने वाले श्रीराम की महिमा का गुणगान तुलसीदास की रचना में भरपूर हुआ है। श्रीराम के व्यक्तित्व की ओर ध्यान दे तो निम्नलिखित बातें सामने आती है।

श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से जाना जाता है।

श्रीराम पितृभक्त थे, यही कारण हैं कि अपने पिता के वचनों का पालन करने के लिए वे 14 वर्ष का वनवास काटने चले गए थे।

श्रीराम चाहते तो वे वनवास नहीं जा सकते थे, क्योंकि उनपर किसी प्रकार का दबाव नहीं था, परन्तु उन्होंनें अपने पिता के सम्मान की रक्षा हेतु वन जाना स्वीकार किया। जब उनके भाई भरत उन्हें लेने चित्रकुट आए तब वे इस बहाने से वापस लौट सकते थे परन्तु अपने पिता के वचनों की मर्यादा का पालन करते हुए उन्होंने वनवास को ही चुना।

श्रीराम को वनवास भेजने वलाी माता कैकयी थी परन्तु श्रीराम स्वभाव से इतने कोमल तथा दयालु थे हिक उन्होंने माता कैकयी को क्षमा कर दिया था। केवल इतना ही नहीं, उनके मन में माता कैकयी के प्रति गहरी श्रद्धा तथा प्रेम भरा हुआ था।

श्रीराम स्वभाव से प्रेमी थे, देवी सीता को अपने साथ बन में ले जाना उनके पति धर्म का ही एक उत्कृष्ट उदाहरण है। क्योंकि जिस प्रकार पति की सेवा तथा दायित्व पत्नी का धर्म है उसी प्रकार पत्नीके प्रति दायित्व पति का भी है। श्रीराम देवी सीता को महल में अकेले छोड़ नहीं सकते थे, वही देवी सीता भी राम के साथि वन में जाने के लिए तैयार थी।

देवी सीता को वनवास देने के बावजूद श्रीराम ने एक पत्नी धर्म का पालन किया जो कि उस समय एक बहुत बड़ी बात थी। राम के समकालीन अन्य राजाओं ने अनेक विवाह किए थे परन्तु श्रीराम ने अपने भाईयों तथा समाज के समाने सबसे सर्वोत्तम उदाहरण रखा।

श्रीराम जब वन में थे तो उन्हें ऐसे भी कई राजाओं का समर्थन मिला जो सहर्ष अपनी राजगद्दी उन्हें सौंप देना चाहते थे। जैसे कि निषाद राज तथा सुग्रीव। परन्तु श्रीराम ने अपने पिता के वचनों का पालन करते हुए 14 वर्ष वन में ही कांटे। किसी भी राज्य में या गांव तक में भी प्रवेश नहीं किया। अपनी मर्यादा में रहकर वन में अपने सामर्थ्य से जीते रहे।

श्रीराम के पास जितनी शक्ति थी उससे वे किसी भी राज्य को जीत सकते थे एवं उनके राजा बन सकते थे। परन्तु उन्होंने अपना संयम नहीं खोया। उन्होंने वन में राक्षसों का वध करके वन में रहने वाले ऋषिमुनियों की रक्षा की। श्रीराम ने बाली, रावण जैसे दुराचारियों का वध एक राजा की हैसियत से किया क्योंकि उस समय उनके लिए जंगल में रहने वाली प्रजा ही उनके अपने थे। परन्तु फिर भी अपनी मर्यादा का पालन करना उन्होंने नहीं छोड़ा। बाली का वध करके बाली के पुत्र अंगद को उसका राज्य सौंप दिया, सुग्रीव के साथ न्याय किया तथा रावण का वध करके उन्होंने लंका पर अधिकार नहीं किया बल्कि रावण के भाई विभिषण को राज्य सौंप दिया।

श्रीराम के मन में ऊँच–नीच की भावना भी नहीं थी। तभी उन्होंने शबरी के जूठे बैर खाकर समाज में जाति–भेद से परे एक अलग समाज के होने का आदर्श प्रस्तुत किया।

यहाँ हम देख सकते हैं कि इतनी विपरीत परिस्थिति तथा उत्तेजनात्मक परिवेश में भी राम ने अपनी मर्यादा नहीं छोड़ी। अपने पिता के वचनों का पालन करते हुए वनवास को संयम के साथ पालन करते रहे। यह तो थी लौकिक राम की विशेषताएँ परन्तु तुलसीदास के श्रीराम ने केवल लौकिक है बल्कि अलौकिक भी है। यह वह श्रीराम है जो समस्त सृष्टि के सृजनकर्ता है। दुखियों के दुख दूर

करने वाले सांसारिक प्राणी को जन्म–जन्मान्तर के चक्रव्यूह से मुक्ति देकर मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। इस प्रकार न जाने कितनी ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें गोस्वामी तुलसीदास ने अपने सम्पूर्ण रचनाओं में स्थापित किया है। राम के आदर्शों को लोगों के सामने स्थापित करने का मूल कारण भी यही था कि समाज में राम के चरित्र के समान आम लोग भी उनके जैसे अच्छी बातों का अनुसनरण करें। इतना ही नहीं बल्कि राम के आदर्शों का अनुसरण के साथ–साथ राम की भक्ति पर भी ध्यान देते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी सभी रचनाओं में श्रीराम के आदर्शों तथा उनकी मर्यादा को भली भांति उजागर किया है। तथा जैसे कि हम पहले कह चुके हैं कि मानव–मूल्य का अर्थ अपनापन है तथा उससे जनित भक्ति भी मानव–मूल्य है। अतः तुलसीदास रचित भक्तिकाव्य को मानव–मूल्य का काव्य कहा जा सकता है। दूसरी बात यहां कहना जरूरी है कि भक्तिकाल में जितने भी कवि हुए हैं वे सभी मानव–मूल्य से भरे हुए महा–मानव थे। यही कारण है कि उन्होंने पूरे समाज में अपनी भक्ति द्वारा मानव–मूल्य को स्थापित करने के लिए अपनी रचनाओं द्वारा सफल प्रयास किया है।

तुलसीदास की दोहावली में राम नाम का जाप तथा उनका स्मरण करना प्रमुख है। अपने प्रथम दोहे से ही वह राम नाम के जप की महिमा के बारे में बताते हुए कहते हैं कि भगवान श्रीराम अपनी पत्नी सीता तथा भाई लक्षमण के साथ चित्रकूट में सदा निवास करते हैं। उनका नाम जो भी जाप करता है भगवान राम उसकी हर इच्छा पूरी कर देते हैं, उसे उसकी इच्छानुसार फल प्रदान करते हैं। इसी प्रकार अपने एक और दोहे हैं भी राम नाम के जप की अनिवार्यता को दर्शाते हुए कहते हैं कि –

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु।।[1]

इस दोहे में तुलसीदास लोगों को यह संदेश दे रहे हैं कि यदि अपने कई जन्मों की बिगड़ी हुई को सुधारना चाहते हो तो कुसमाज को त्यागकर राम नाम को जपना शुरू कर दो। विशुद्ध भक्तिमत के अनुसार तो इसमें राम की शरण में जाने के लिए कहा गया है। यहाँ पर मानव–मूल्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जिस प्रकार श्रीराम ने मानवीय मूल्यों का पालन किया है, मर्यादा का पालन किया है उसी प्रकार लोगों को भी श्रीराम के आदर्शों का पालन करना चाहिए। राम नाम का जाप करने का अर्थ ही यही है कि राम के आदर्शों पर चलो। जैसे राम ने कुसमाज को सदा अपने से दूर रखा उसी प्रकार हमें भी अपने–आप को कुसमाज से दूर रखना चाहिए तथा भक्तिमार्ग की ओर चलना चाहिए। दूसरी बात कुसमाज का अर्थ क्या है आज के युग में लोग भली–भांति जानते हैं।

उसी प्रकार तुलसीदास जी का एक और दोहा ले लिया जाए जिसमें

उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर संदेश दिया है। लोगों को किसी भी महत्वपूर्ण कार्य करते समय यदि प्रसन्नता का भाव ना हो तो उस कार्य का कोई फल नहीं मिलता है। यथा

रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पायँ।
तुलसी जिन्हहि न पुलक तनु ते जग जीवत जायँ।।[2]

इस दोहे में तुलसीदास जी जो संदेश देना चाहते हैं वह बहुत स्पष्ट है कि यदि धर्मयुद्ध हो तब शत्रु का सामना करते समय, किसी को दान देते समय या फिर गुरू के चरणों में प्रणाम करते समय यदि प्रसन्नता नहीं होती है तो फिर उस काम को करने का कोई मतलब नहीं है। प्रसन्नता का भाव आता है। यही तो मानव–मूल्य हैं किसी भिखारी को दान देने से पहले यदि उस भिखारी को अपना समझा जाय तो उसे कुछ देते समय अपने–आप प्रसन्नता जागेगी। उसी प्रकार गुरू जो कि हमें अपना समझकर ज्ञान प्रदान करते हैं यदि उनके प्रति हमारे मन में अपनेपन की भावना रहेगी तथी उनके चरणों को स्पर्श करते हुए प्रसन्नता आएगी। अपनेपन की भावना से ही प्रसन्नता का भाव जन्म लेता है। परन्तु यदि कोई प्रसन्नता को भाव बिना ये कर्म करता है तो उसमें मानव–मूल्य नहीं है।

तुलसीदास जी इसी प्रकार राम राज्य की महिमा की वर्णन करते हुए कहते हैं।

राम राज राजत सकल धरम निरत नर नारि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास जी के प्रत्येक रचना में मानव–मूल्य का भण्डार भरा पड़ा है। उनकी सबसे उत्कृष्ट रचना रामचरित मानस में जिस प्रकार आदर्श मनुष्य के गुण की व्याख्या हुई है उसी प्रकार उनकी दोहावली में भी वही भावना भरी पड़ी हुई है फिर भले ही वह भक्ति एवं नीति वाले दोहे ही क्यों न हो। वस्तुतः मानव –मूल्य के लिए भक्ति एवं नीति दोनों की आवश्यकता है। जो मनुष्य है वह भक्ति भी करता है तथा जीवन जीने के लिए नीति का प्रयोग भी करता है। अतः ये दोनों ही मानव–मूल्य के अभिन्न अंग कहे जा सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. तुसली होवली– सेंपादन–राघव 'रघु', प्रभात प्रकाशन, 2012, पृ. सं–23
2. वही पृ. सं– 25
3. वही पृ. सं– 40
4. वही पृ. सं– 48
5. वही पृ. सं– 31

■

शमशेर के काव्य में प्रेम, प्रकृति और नारी सौन्दर्य

डॉ. अर्चना त्रिपाठी

शमशेर फ्रांसीसी प्रभाववादी कवियों से कई मायनों में काफी भिन्न है, इसका कारण उनका राजनीतिक और सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण है , जो उन्हें आत्मपरकता में बंधने नहीं देता। शमशेर की कविताओं को देखें तो हमें नारी सौंदर्य तो मिलता ही है, प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन भी कम नहीं है।

नारी सौंदर्य ने आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों को अपनी ओर आकर्षित किया है परंतु युगबोध के अनुसार नारियों के प्रति कवियों का दृष्टिकोण हमेशा बदलता रहा है प्रगतिशील कवियों ने सामाजिक जागरूकता व साहित्यिक मान्यताओं के अंतर्गत नारी को अपने काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है नारी के प्रति प्रगतिशील कवियों का दृष्टिकोण निश्चय ही छायावादी दृष्टिकोण से भिन्न व अधिक स्वस्थ और यथार्थवादी है समाज के दलित व शोषित वर्गों की कविता में महत्वपूर्ण स्थान देते समय नारियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि भारतीय नारियां सदियों से अत्याचार ,शोषण ,अन्याय को झेलती रही हैं।

प्रगतिशील कवियों ने मुख्य रूप से मजदूर किसान महिलाओं और उनकी समस्याओं को कविता में प्रस्तुत किया है। मध्य वर्ग की महिलाओं की और कम ध्यान दिया गया है इनका ज्यादातर ध्यान मुख्य रूप से दलित वर्ग की नारियों की दरिद्रता उसकी दयनीय दशा व उसके शोषण की ओर गया है। नारियों के बहुमुखी शोषण को सशक्त रूप से प्रस्तुत किया गया है

शमशेर नारी की अक्सरहा ठोस प्रतिमा बनाते हैं, निम्नोन्नत उभार , गोलाइयों, कोणों वाली प्रतिमा। शमशेर की नारी – मूर्ति प्रगतिशील कवियों, छायावादी कवियों व अपने समान धर्मा अन्य कवियों से भिन्न है। वह श्रम शीला या मजदूरिनी या कृषक– वाला तो है ही नहीं। शमशेर ने उसे अपनी भूख और सौंदर्य कला के अनुकूल गढ़ा है। नारी देह का शिल्प नई कविता में शमशेर के यहां ही सर्वाधिक सटीक है।

शमशेर के कवि मानस की बनावट अत्यंत जटिल है। उसमें सौंदर्य है तो प्रेम भी, नारी है तो प्रकृति भी, मनुष्य व्यक्ति है तो समाज भी व देश है तो संसार भी।

संपर्क – श्री अरविंद महिला कॉलेज काजीपुर पटना 4 , मोबाइल नंबर 970 832 9867

ये सभी उनमें परस्पर घुले मिले हैं व उसी रूप में उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुए हैं। यद्यपि इनमें से कोई एक चीज दिखलाई पड़ती है और बाकी चीजें नहीं तो इसका यह मतलब कतई नहीं होता कि उनकी कविता इकहरी है और बाकी चीजें नहीं है। वे अनिवार्य रूप से वहां रहती है भले ही अदृश्य रूप में। गहराई में झांकने पर वे चीजें भी दिखलाई पड़ने लगती हैं। यही कारण है कि शमशेर के हिंदी के प्रगतिशील कवियों में ही नहीं सभी आधुनिक कवियों में अत्यंत विशिष्ट कवि हैं। अपनी एक कविता में उन्होंने कहा है–

अनगिनत आईनों को न जाने कितने कोणों से प्रतिबिंबित किये हुए।
यह बात कवि की अपनी कविताओं पर पूर्णरूपेण लागू है।

मार्क्सवाद के अनुसार अर्थ–व्यवस्था यदि जड़ है तो सौंदर्य पुष्प –प्रस्फुटन। गोर्की ने भी इस बात पर बल दिया है, कि–जनता की स्वतंत्रता व सौंदर्य की आकांक्षा ही सर्वहारा क्रांति के लिए निर्णायक होती है। स्वभावतरू समाजवादी समाज में जनता को शुद्ध उपयोगिता मूलक आवश्यकताओं की पकड़ से मुक्त कर उनमें प्रकृति प्रदत्त सौंदर्यात्मक संवेदना को जगाने व पूरी तरह से विकसित करने का प्रयास किया जाता है। इस तरह सौंदर्य से प्रगतिशील चेतना का विरोध नहीं बल्कि घनिष्ठ संबंध है। शमशेर हिंदी के आधुनिक कवियों में से इस दृष्टि से अप्रतिम है कि उनकी सौंदर्य चेतना अत्यधिक विकसित है। यह कवि के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का सूचक है। सौंदर्य मनुष्य का हो या नारी का हो या प्रकृति उसकी बहुत ही गहरी और सूक्ष्म अनुभूति शमशेर की कविताओं में दृष्टिगत होती है। 'कत्थई गुलाब' में कवि (नारी) प्रेमिका के शारीरिक सौंदर्य का वर्णन कुछ इस रूप में करते हैं– 'आकाशीय/गंगा की/झिलमिल ओढ़े/तुम्हारे तन का छंद/गत स्पर्श/अति अति नवीन आशाओं भरा/तुम्हारा/बंद बंद।'[1]

आकाशगंगा की ओढ़नी जहां चित्र को एक विराटता दे देती है, वहां 'तन का छंद' हमारा ध्यान शरीर तक सीमित न रखकर उसकी लय तक ले जाता है, जो कि 'गत स्पर्श' है। इसी तरह बंद बंद में 'अति अति अति नवीन आशाओं का संचार शारीरिक सौंदर्य में भावना का संचार कर उसकी स्थूलता कम कर देता है। एक अन्य कविता 'सौंदर्य' में शमशेर ने सौंदर्य की बहुत ही पैनी अनुभूति प्रस्तुत की है 'जो द्रष्टव्य है –'न जाने किसने मुझे अतुलित/छवि के भयानक अतल से/निकाला.. ..... जब तू, बाल लहराए/मेरे सम्मुख खड़ी थी' मुझे नहीं ज्ञात।'

प्रस्तुत कविता में ही वे प्रेमिका की हंसी का भी एक अद्भुत चित्र अंकित करते हैं–तेरी हंसी को मैं उषा की भाव से निर्मित गुलाब की बिखरती पंखुड़ियां ही समझता था।

प्रेमिका या प्रिया का एक दूसरा रूप है जो अप्राप्य है उसकी तीव्रतम स्मृति तन्मयता में, प्राप्ति का अनुभव। यहां केवल तन्मयता व स्मृति–तीव्रता कहने के लिए समाधि का प्रयोग किया जा सकता है । स्मृति–तीव्रता ही ठीक है क्योंकि शमशेर के यहां अप्राप्ति में प्राप्ति–यानी दोनों बोध बने रहते हैं। अप्राप्ति वास्तविक होती

है, प्राप्ति आभास या माया। प्राप्ति का भ्रम मन में पैदा होता है, अप्राप्ति जीवन में है। इन दोनों के द्वंद्व की यातना जितनी शमशेर के यहां है। उतनी समकालीन कविता में अन्यत्र नहीं। वह इस द्वंद्व में जब अपना दुखी जीवन का निर्मम चित्र खींचते हैं तब उनकी कविता क्लासिक गंभीरता प्राप्त करती है। शमशेर ने दारूण, अभावग्रस्त, एकाकी एवं अव्यवस्थित जीवन जिया है–अपनी यातना को छिपाए हुए विपत्ति ग्रस्त असहाय अकेलेपन में मन प्रिय की छाया पकड़ता है।

मनुष्य के सौंदर्य की तरह ही शमशेर ने प्रकृति के भी अत्यंत बारीक और अछूते चित्र अंकित किए हैं। शमशेर 'हमारी जमीन' शीर्षक कविता में एक विराट और सूक्ष्मयी बिंब के द्वारा अपनी पृथ्वी के सौंदर्य का वर्णन करते हुए उसके और अपने अकेलेपन के बारे में कहते हैं–'हम दोनों कितने अकेले..... दूऽर सबसे .....सबसे..... ...। यद्यपि गुंजान खिलखिलाते या मिचमिचाते तारों से घिरे हुए.....एकदम घबरा देने वाली(तारों की) झिलमिलाती झाड़ियों से घिरे हुए फिर भी उफ कितने असहाय और अकेले.....मैं और मेरी जमीन, इस विश्व में!

शमशेर अति सुंदर पृथ्वी के अंत की कल्पना मात्र से ही कांप उठते हैं और उसके प्रति अत्यंत उत्कट प्रेम की अभिव्यक्ति करते कहते हैं मैं तो खैर..... मेरी जमीन भी क्या एक दिन।

एक दिन.....? खैर !

प्रकृति और सौंदर्य से शमशेर का लगाओ पुराना है। एक कविता में तो उन्होंने अपने कवि के बारे में कहा है, जिसने जीवन के सम्मान फूंक दिए आंगन में छवि के! 'कमरे में आया' और घिरते आकाश का 'इन दो कविताओं में कमरे में और आकाश में अंधकार' के गिरने का बहुत ही सूक्ष्म और लतात्मक वर्णन है। चित्र सूक्ष्म है और जिस गति से अंधकार घिरता या फैलता है, उसी गति के अनुरूप कविता की लय है। यही ठीक है कि घिरते अंधकार को कवि 'सूने घर में' और 'हताश' मनोदशा में देखता है, किंतु उसके वर्णन की सफलता इस बात में है कि वह अत्यंत वस्तुपरक है। यह वर्णन छायावादी कवियों के संध्या गमन के वर्णन की तुलना में निश्चय ही अधिक यथार्थवादी है। उदाहरणार्थ यह पहली कविता उद्धृत है–'कमरे में आया शाम का कोमल अंधियाला दीवारों पर, छत पर–चुप–चुप कोहरे सा काला कुछ उदास मन छाया मेरे सूने घर में धीरे–धीरे डूबा उसका मन। मैं भी कहीं कौन जाने कब बैठा उस तम की मिट्टी में उसके संग समाया। 'नील शिखर पर' और 'इंदु बिहान' प्रकृति सौंदर्य की दो अद्‌भुत कविताएं हैं। पहाड़ की नीली चोटी रोशनी से चमक रही है। इस पर कवि का कहना है। नील शिखर पर किसके चरण चिन्ह हैं दीप्त नव नक्षत्र राशि से सुंदर? सुरभित आकार अपनी शोभा में कर लीन भुला रहे जो अग जग जीवन। रोशनी क्या है, जैसे किसी के भास्वर चरण चिन्ह हैं। जब कवि को चरण की याद आती है, तो उसे चरण के लिए प्रयुक्त श्रेष्ठ उपमान कमल भी याद आता है। फिर तो कमल की सुरभि से सारा आकाश सुरभित हो उठता है। ऐसा ही

सशक्त और रमणीय वर्णन 'इंदु विहान' में भी दृष्टिगत होता है, जिसमें पश्चिम दिशा में सूर्यास्त हो रहा है और पूर्व दिशा में चंद्रोदय –

'नील–तन गिरी श्रेणियों के अधर/झर रही है धूम स्वर्णिम धूल/ओढ़ श्याम मुकुल नभ से झांकता है एक लोहित फूल/पूर्व इंदु बिहान/घनों में छा–सा चला वह/क्षीण इंदु–विहान।'

शमशेर ने छायावादी सौंदर्य–बोध को और अधिक सूक्ष्मता प्रदान की है इस तरह उसे और विकसित किया है। ज्ञातव्य यह है कि यहां उन्होंने सौंदर्य को मनोगत नहीं, अपितु वस्तुगत आधार प्रदान करके किया है। सौंदर्य चित्रण में हिंदी कविता को यही उनकी यानी(कवि की देन) है।

संध्या की 'चुप्पी' और का निरवता का निराला ने भी वर्णन किया है और पंत ने भी, किंतु शमशेर के इस वर्णन में जो सूक्ष्मता और आत्मीयता है वह अपूर्व है–

शांति श्री प्राणों की
इतने पास अपने।[3]

यही बात हम पंत की इस 'पंक्ति पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर' से शमशेर की इन पंक्तियों की तुलना करने पर पाते हैं : एक–एक पत्ता सा कत/हेरा, संध्या भा में/सुनता– सा कुछ..... किसको/इतने पास अपने/श्याम पथ पर/स्थिर हुए–से चल।

गेरू–पंख मौन क्यों हैं इसलिए कि उसमें सरसराहट नहीं है निराला ने 'खजोहरा' में काले–काले बादलों की उपमा हाईकोर्ट के काले–काले लबादे धारण करने वाले वकीलों से दी थी। जैसे वकील वही टूटते हैं, जहां पैसा होता है, वैसे ही बादल भी वही बरसते हैं, जहां पहले से पानी भरा होता है। शमशेर को गेरू के रंग वाले बादलों को देखकर गेरुआ लबादा धारण करने वाले संन्यासियों की याद आती है। जैसे सन्यासी दुनिया से कोई मतलब नहीं रखते, वैसे ही बादल भी पृथ्वी पर बरसने के लिए गर्जन–तर्जन नहीं कर रहे, आपस में टकरा नहीं रहे, निर्लिप्त भाव से मंद–मंद आकाश में रहे हैं।

'जाड़ों की सुबह के सात–आठ बजे' शीर्षक कविता में शमशेर ने जाड़े की प्रीतिकर धूप का वर्णन किया है जो मनुष्य से लेकर वस्तुओं के अंदर तक बैठ गई है और उन्हें हल्की गर्माहट दे रही है। धूप की ऐसी विस्तृत और सुख की अनुभूति वाली कविता निश्चय ही हिंदी में पहले नहीं लिखी गई। उदाहरण के लिए यह छोटी कविता पूर्ण उद्धत है– 'उड़ते पंखों की परछाइयां/हल्के झाड़ू से धूप को समेटने की कोशिश हो जैसे/व्यर्थ, क्योंकि/धूप वस्तुओं के अंदर है जहां–जहां भी इस समय तो/केवल परछाइयों के विभिन्न फ्रेम सुप्त हैं/(धूप होने का स्वप्न देखते हुए. .....)/धूप मेरे अंदर भी/इस समय तो/परछाइयों के फ्रेम के अंदर/सुप्त।

शमशेर की प्रकृति सौंदर्य की दो और कविताएं शीर्षक 'गायें' तथा 'शीला का खून पीती थी' हैं इन कविताओं में भी 'कवि' ने प्रकृति सौंदर्य को बखूबी व्यक्त

किया है दो पत्थर जो दूर से गायें प्रतीत होती हैं, को इस तरह चित्रित किया है– गायें मैली, सफेद, काली भूरी। पत्थर लुढ़ के पड़े। पेड़ स्थिर नीरव/दो पहाड़ियां धूम–विनिर्मित, पावन/'शीला का खून पीती थीं'/वह जड़/जो कि पत्थर थी स्वयं।/सीढ़ियां थी बादलों की झूलतीं/टहनियों–सी/और वह पक्का चबूतरा,/ढाल में चिकनाय/सुतल था/आत्मा के कल्पतरु का?

यहां पर इन असंबद्ध बिंबों के द्वारा कवि ने दो बातों का निर्वाह किया है –एक तो स्पेस का दूसरा वृक्षों के बिंब का, यह वृक्ष परिचित नहीं है शायद कवि की अचेतन का है। आकाश की कल्पना 'आत्मा के कल्पतरु के पक्के चबूतरे' के रूप में किया है, बादल उस वृक्ष की टहनियां बन जाते हैं–या जो टहनियां हैं उनमें बादलों का लहराने–झूमने का गुण प्रविष्ट हो जाता है।

जिस तरह शमशेर की कविताओं में सौंदर्य नारी और प्रकृति दोनों के लिए दृष्टिगत होते हैं उसी तरह इनकी कविताओं में प्रेम भी प्रकृति और मानव दोनों के प्रति समान झलकता है।

शमशेर ने कहा है रूप प्रेम की भावुकता ने जो बीज बोया वह मैं देखता हूं की अकारत नहीं गया क्योंकि पूरी मनुष्य जाति से प्रेम, युद्ध से नफरत और शांति की समस्याओं से दिलचस्पी–ये सब बातें उसी से धीरे–धीरे मेरे अंदर पैदा हुई। यहां उन्होंने अपनी प्रेम–भावना के सही दिशा में विकसित होने की ओर संकेत किया है, किंतु उसमें मनुष्य के प्रति करुणा–भाव की अभिव्यक्ति देखते ही बनती है। प्रकृति और प्रेम भावना का यह उच्चतर रूप है। कवि सूर्य को ईसा का रूप प्रदान करते हुए इन शब्दों में उसका स्तवन करता है– 'करो की असंख्य ही सलबीं/काट एक दूसरे को /आंखों के सम्मुख/उठती हैं फिर फिर अति/मधुर–मंदिर मधुर मंदिर/जय हो ! जय हो ! मेरे हे सूर्य रवीष्ट !

हे अंतिम

मानव करूणा अभीष्ट !

इन पंक्तियों में शमशेर के तीव्र मानव प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है और इसमें जो सशक्त भीम योजना है, वह उनके काव्य नए स्तर पर पहुंचने की सूचक है । 'आधीरात' और 'गाए' उदिता की क्रमशः यौन प्रेम और प्रकृति प्रेम की कविताएं हैं, किंतु ये महत्वपूर्ण है यथार्थ दृश्य चित्रण की दृष्टि से।

'मेरा झूठा मान' कवि की यौन–प्रेम की कविताएं हैं जो अपनी यथार्थवादीता के कारण ही छायावादी प्रेम कविताओं से सर्वथा भिन्न है। द्रष्टव्य है उसकी यह पंक्तियां : आएगी फिर शाम/कोई आएगा फिर मेरे नाम/मेरा प्रेम पत्र, आधा जीवन जिसका दाम?[4]

'सौंदर्य', 'संध्या', 'बादलों के मौन गेरू पंख' और 'कत्थई गुलाब' शमशेर की प्रेम कविताएं हैं, जिसमें कवि ने प्रेम की अत्यंत मार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति की है। 'सौंदर्य' की यह प्रस्तुत पंक्तियां उपर उपस्थित की जा चुकी हैं' तेरी हंसी को

मैं उषा की भाप से निर्मित गुलाब की बिखरती पंखुड़ियों ही समझता था। उसके बाद कभी कहते हैं : मगर वह मेरा हृदय भी कभी छील डालेगी, मुझे मालूम न था संध्या–काल में बादलों के सिरों पर विलीन होने के पहले डूबते हुए सूर्य की मंद आभा वाली किरणें चमकती हैं। उन्हें देखकर शमशेर के मन में कुछ क्षणों के लिए प्रेम की धुंधली स्मृतियां जब पड़ती हैं। वे इस बात से उल्लसित होते हैं कि बादल और स्मृतियां उनके इतने करीब हैः 'या दों की दवा मा एन / बादल के मालों पर / चमकी–सी लय होने / धीरे–धीरे–धीरे / इतने पास अपने।'[5]

इसी समय बिजली चमकती है तो कवि को लगता है कि वह उसकी प्रेमिका की वाणी है, जो इशारे से कुछ कह रही है। उसे इस बात से भी प्रचुर प्रसन्नता होती है कि उसकी प्रेमिका के स्वर प्रतिध्वनी उसके इतना करीब हैः वाणी विद्युत लेखा–

से क्या इंगित करती
तेरे स्वर का स्वर है
कितने पास अपने।[6]

(संध्या) नैकट्य की अनुभूति निश्चय ही जितनी ही मार्मिक है, उतनी ही सूक्ष्म भी। 'बादलों के मौन गेरू पंख' में कवि कहता है कि आकाश में जब बादल स्थिर–से हैं, उसका मन अज्ञात दिशा में बैठता जा रहा है! तू कि पत्थर हो गया है

ओ विहग–मन
बैठता जा रहा है
किस दिशा में?

'कत्थई गुलाब' में प्रेमिका के सौंदर्य के साथ–साथ प्रेम की तड़प भी है, जो प्रेमिका के इस संबोधन से व्यंजीत होती हैः

ओ प्रेम की असंभव सरलते
सदैव – सदैव ।

'थरथराता रहा' शमशेर की एक ऐसी कविता है जिसमें वस्तुतः' एक विचित्र प्रेम अनुभूति 'बहुत ही सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुई है। यह कविता आकार में छोटी है अतः :पूरी देखें:– थरथराता रहा जैसे तेज वेतन / मेरा काय.....कितनी देर तक / आपदमस्तक / एक पीपल पात में थरथर / कांपती काया शिराओं भरी / झम झम / देर तक बजती रही / और समस्त वातावरण / मानों झंझावात / ऐसा क्षण वह आपात / स्थिति का।[7]

शमशेर अनुभूति के कवि हैं इसी के परिणाम स्वरूप वे समाज की भी कविता दिखते हैं तो हमें उसमें अनेक व्यक्ति मन की पीड़ा और अकेलापन देखने को मिलता है। इसी प्रकार उनकी प्रेम कविता का भी एक सामाजिक संदर्भ होता है। इनका प्रेम कोई आध्यात्मिक वस्तु नहीं है। वह इसी समाज के भीतर इसी समाज के व्यक्ति विशेष के प्रति उत्पन्न हुआ है। इसी कारण वह 'क्रूरतम' और 'कटुतम' है। शमशेर का मानव–सौंदर्य भी प्रकृति सौंदर्य से युक्त है और उनका प्रकृति सौंदर्य भी मानव

सौंदर्य से। उदाहरणार्थ उनकी प्रेमिका आकाशीय गंगा की झिलमिली ओढ़े है और उनके बादलों के मौन गेरू पंख सन्यासी हैं। इस सौंदर्य का समाज से संबंध नहीं मालूम पड़ता, पर जैसा कि संकेत किया जा चुका है इन दोनों के बीच संबंध है और वह वैसा संबंध है, जैसा पौधे की जड़ और पुष्प प्रस्फुटन के बीच होता है। शमशेर का व्यक्तित्व स्वतंत्र है, इसलिए वे सौंदर्य की गहरी और सूक्ष्म अनुभूति करने में समर्थ है। स्वभावतः उन्होंने मनुष्य को स्वतंत्र और सौंदर्य–चेतना संपन्न बनाने के लिए कविता का इस्तेमाल किया है। उन्हें कला की शक्ति मालूम है उन्होंने 'कला' शीर्षक कविता में भी कहा हैः कला सबसे बड़ा संघर्ष बन जाती हैः

मनुष्य की आत्मा का/प्रेम का कवंल कितना विशाल हो जाता है/आकाश जितना/और केवल उसी के दूसरे अर्थ सौंदर्य/हो जाते हैं/मनुष्य की आत्मा में

कवि किशन शेर ने जो परिभाषा दी है, वह अद्‌भुत है। अपनी 'शाम–सुबह' शीर्षक कविता में शमशेर कहते हैं– उषा ...../व्योम उज्ज्वल स्निग्ध/सीधा–देवता सा खड़ा है/स्थिर/मानवी व्योम/कवि केवल कवि.....।

यह आकाश तो दैवी या प्राकृतिक है, मानवी आकाश तो कवि है। इस तरह कवि शमशेर के लिए मूल्य निरपेक्ष या मूल्य ध्वंसक नहीं ,अपितु सौंदर्य और विचार जैसे मूल्यों का संवाहक है।

संदर्भ ग्रंथ–

1. शमशेर बहादुर सिंह प्रतिनिधि कविताएं राजकमल पेपर बैग पृष्ठ 145
2. 147
3. 147
4. शमशेर बहादुर सिंह 'उदिता' वाणी प्रकाशन, संक्षिप्त भूमिका से
5. शमशेर बहादुर सिंह 'इतने पास अपने'
6. शमशेर बहादुर सिंह 'इतने पास अपने'
7. शमशेर बहादुर सिंह 'प्रतिनिधि कविताएं' पृष्ठ 151

■

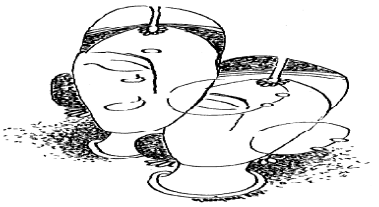

औपनिवेशिक बिहार के क्षेत्रीय बोलियों में प्रतिरोध के स्वर

शिखा सिन्हा

औपनिवेशिक बिहार की जटिल एवं विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्थितियों को समझने में बिहार की आँचलिक बोलियों का महत्वपूर्ण स्थान है।

आर्काइवल स्रोत मुख्यतः राजनीतिक एवं नेतृत्व के दृष्टिकोण से संजोये गए हैं। इनसे बिहार की सामाजिक एवं सांस्कृतिक जटिलताओं पर सीमित प्रकाश डाला जा सकता है। आम लोग का दृष्टिकोण, उनकी सामूहिक स्मृति, आशाएँ, अपेक्षाएँ, संघर्ष, प्रतिरोध और हताशा इन स्रोतों में मुखर नहीं है।

ऐसे में साहित्यिक स्त्रोतों का महत्व बढ़ जाता है, क्योंकि ये आम लोगों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। परन्तु हिन्दी के स्रोत पर्याप्त नहीं है। ग्रीयरसन के अनुसार 1880 के दशक में हिन्दी राजकाज और अभिजात्य वर्ग की भाषा बन रही थी। आम लोगों के लिए इसे सीखना और बोलना कठिन था। बाद में अनेक रचनाएँ देश प्रेम की भावना से ओत–प्रोत एवं नेतृत्व की दृष्टिकोण से लिखे गये। इन रचनाओं में आमलोगों की अभिव्यक्ति कम दीखती है। फणीश्वरनाथ रेणु की रचनाओं में आंचलिकता एवं समाज की जटिलताएं उभर कर आती हैं पर अन्य में इनका अभाव है। संघर्ष के विभिन्न धाराओं की अभिव्यक्ति हिन्दी साहित्य में हैं, परन्तु ये सीमित है। इनसे संघर्ष के समय उस काल की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति, नेतृत्व कर्त्ता एवं लोगों के प्रतिरोध के स्वर, उनकी दृष्टि और संघर्ष के स्वरूप, प्रकार, तीव्रता, सीमाएं और सफलताओं को समझने में आसानी होती है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' अनुग्रह नारायण सिंह के 'मेरे संस्मरण', बिहार की तात्कालीन सामाजिक स्थिति, आपसी मतभेद, कांग्रेस की अन्य सामाजिक धाराओं एवं राजनीतिक तथा समाजवादी आन्दोलन कांग्रेस के अन्दर के मतभेद, कम्यूनिस्ट पार्टी, मोमिन संघ, त्रिवेणी संघ 'रेडिकल डिमोक्रेटिक

संपर्क – सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, जय प्रकाश महिला कॉलेज, छपरा, बिहार

पार्टी, जमींदार', किसान आन्दोलन के प्रति नेतृत्व के स्तर पर दृष्टिकोण पर प्रकाश डालता है। औपनिवेशिक रिकार्डों से इनकी तुलना, कर इतिहास लेखन में सहायता मिल पाती है। स्वामी सहजानंद सरस्वती ने मेरा जीवन संघर्ष, किसान कैसे लड़ते हैं, किसान क्या करें जैसी पुस्तकों की रचना की जो बिहार के किसान आन्दोलनों के स्वरूप संघर्ष, फैलाव, महिलाओं की भूमिका कांग्रेस के साथ संबंध पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार, रामधारी सिंह दिनकर, नागार्जुन, राजा राधिका रमन सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी की रचनाएं भी उल्लेखनीय है। आंचलिकता के दृष्टिकोण से फणीश्वरनाथ रेणु की रचना 'कितने चौराहे' परती परियत्रा, मैला आंचल आदि हैं। इनमें जाति और उपजातियों में बंटी गांव की सामाजिक ढाँचा, पिछड़ेपन, दुःख–दैन्य, अभाव अज्ञान, अन्धविश्वास, तरह–तरह के सामाजिक शोषण चक्रों में फँसी हुई जनता की पीड़ाओं और संघर्षों से भी साक्षात्कार होता है। पर ये एक सीमित काल और एक अंचल का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऐसे में आंचलिक बोलियों में उपलब्ध साहित्य का महत्व बढ़ जाता है।

आँचलिक बोलियों में मैथिली, भोजपुरी, मगही, अंगिका, वज्जिका आदि प्रमुख है। इनके साहित्य को दो भागों में बाँटा जाता है, लिखित साहित्य और मौखिक परम्परा। इन बोलियों की अपनी एक समृद्ध मौखिक परम्परा है जिनके अन्तर्गत, लोकगीत, लोक गाथाएँ एवं लोक नृत्य, लोक नाट्य, प्रमुख है। आज का यह शीर्षक लोकगाथाओं से जुड़ा है। लोक अभिव्यक्ति के इन माध्यमों में लोकगाथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। ये किसी लोकनायक की विशेषताओं एवं कार्यों का वर्णन होता है जो लम्बी गीतों के रूप में होती है। ये लोकगाथाएँ जाति, वीरता एवं पराक्रम का वर्णन करती है। कुछ नायक विशेष जाति के होते हैं। ये गाथाएँ पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं होती है पर इनका विश्लेषण हमें उस काल की बेहतर समझ एवं अन्तर दृष्टि प्रदान करता है।

इसके लिए उदाहरण के माध्यम से समझना आसान है। यहाँ मैथिली भाषा से दीनाभदरी नामक लोकगाथा के माध्यम से निम्नजाति वर्ग संघर्ष, उनकी विश्व दृष्टिकोण स्ट्रेटजी ऑफ सरवाइबल, अपेक्षाएँ और वास्तविकता के अन्तर को समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही इसी क्षेत्र में 1936–1938 के बीच मुसहर जातियों के हुए संघर्ष जिसे औपनिवेशिक रिकार्डो में 'मुसहर दंगे' के नाम से जाना गया के साथ तुलनात्मक अध्ययन कर एक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया गया है।

मुसहर बिहार की निम्न वर्ग की जातियों में गीने जाते हैं। O. Malley ने अपने विवरण में लिखा है कि मुसहर एक ऐसी निम्न जाति है जो दासत्व की शिकार है जिसे एक छोटे से कर्ज के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी बेगार करना पड़ता है।

इसका सामाजिक शोषण भी होता है। दीना भदरी एक ऐसी लोकगाथा है जिसमें मुसहर दो भाईयों के संघर्ष और विजय की कहानी है। दीना और भदरी दो मुसहर भाई थे, उनकी माता का नाम बिरसा था। वे बलशाली और निडर थे। उनके द्वारा एक तालाब की सफाई की गयी जो मृतप्राणियों से भरा पड़ा था। जिसे देखकर एक जादुगरनी ने राजा से शिकायत कर दी। राजा कंचन सिंह ने उनकी माँ का अपमान किया, जिसे देखकर दीनाभदरी द्वारा उसे हरा दिया गया। इसके उपरान्त वे कुनौली के जमींदार, जोरावर सिंह जो 700 मुसहर परिवारों से बेगार कराता था को उसके प्रभाव से मुक्त कराते हैं। इसी दौरान दीनाभदरी एक जादुई शेर से मारे जाते हैं। दीनाभदरी की पत्नी श्राद्ध के लिए खोइचा में मिले 12 पसेरी चावल को रूपचनवा नामक साहुकार जो ब्याज पर ऋण भी देता था के पास जाती है। उनके 12 पसेरी चावल को रूपचनवा 12 किलो कर देता है। वही दीनाभदरी अपने प्रेत योनी में योगी का रूप धारण कर बैठे रहते हैं और बाट का वजन बढ़ा देते हैं। साहुकार के सारे सामान का वजन चढ़ाने के बाद भी वह बाट के बराबर नहीं होता। साहुकार इससे डर कर माफी मांगता है तब श्राद्ध सम्पन्न होता है।

इसके उपरान्त 'जगन्नाथ' से मिलने पूरी जाते हैं। पर पुजारी अपृश्यता के कारण अन्दर नहीं जाने देते। दीना भदरी मंदिर को हिलाने लगते हैं तब भगवान जगन्नाथ दर्शन देकर कर उन्हें प्रेतयोनी से मुक्ति देते हैं।

इस प्रकार दीनाभदरी के द्वारा तीन जगहों पर प्रहार किया जाता है (i) सामन्त– जो बेगार और शोषण करते थे (ii) सुदकार व्यापारी जो बेईमानी करते थे (iii) भगवान जगन्नाथ– जिनके दरबार में भी अतिप्रशंता होती है। ये तीनों समस्याएं मुसहारों के जीवन की मूल समस्या थी।

इस लोकगाथा में वर्णित संघर्ष से मिलता जुलता संघर्ष हमें इसी क्षेत्र में 1936–1938 के दशक में औपनिवेशिक रिकार्ड में है। 1935 के आस–पास मुसहरों के सामाजिक उन्नयन हेतु सभा की जा रही थी। 1936 जून में दलसिंह सराय (दरभंगा) में हरसिंहपुर नील फैक्टरी के मुसलहरों ने मजदूरी के वृद्धि की मांग की। उनकी मांग पूरी कर दी गयी। इससे प्रेरित होकर आस–पास के क्षेत्रों में मांग की जाने लगी। केवटा नामक स्थान पर, मुसहरों को थाने ले जाकर गिरफ्तार किया गया जिससे मुसहरों ने लाठियाँ चलाई इसमें पुलिस अधिकारी घायल हो गए और दमन बढ़ गया। 1937 में सीतामढ़ी के मुसहर अपने साथी मुसहरों को जिन्हें हाजत में रखा गया था को बचाने के लिए इकट्ठा हुए। उनके हाथ में लाठियां थी और वे गाँधीजी के जय को नारे लगा रहे थे। 1937 में ही अनाज की कमी होने पर मुसहरों ने जमींदारों के अनाज लूट लिए।

इस प्रकार लोकगाथा एवं वास्तविक संघर्षों में समानता दिखाई देती है। इन गाथाओं में प्रतिरोध के स्वर एवं संघर्ष की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। जाति आधारित शोषण, बेगार, अस्पृश्यता, महिलाओं का शोषण, कर्ज, कम मजदूरी आदि प्रमुख समस्याएँ, औपनिवेशिक काल में दिखाई देती हैं। ये गाथाएँ उनके स्ट्रैटजी ऑफ सरवाइवल की तरफ भी संकेत देती है। ये उनके सामूहिक स्मृति का हिस्सा है।

लोकगाथाओं में उपलब्ध प्रतिरोध के स्वरों को इतिहास के स्रोत के रूप में व्यवहार करने में कुछ कठिनाइयाँ है। इनमें काल और स्थान के Concept का अभाव होता है। इनमें अतिश्योक्तियाँ भी होती है। अतः यह आवश्यक है कि इतिहासकार की समय और स्थान एवं काल्पनिकता और तथ्यों के अन्तर का स्पष्ट ज्ञान हो। उस भाषा जिसमें ये लोकगाथाएँ हो की स्पष्ट समझ हो।

अतः आंचलिक बोलियों में उपलब्ध लोकगाथाएँ में प्रतिरोध के स्वर स्पष्ट है। ये उनकी दृष्टिकोण से संघर्षों को समझने में मददगार है।

संदर्भ–सूची

(1) हेनिघम, स्टीफेन, ऑटोनोमी एंड ऑर्गेनाइजेशनः
हरिजन एंड आदिवासी प्रोटेस्ट मूवमेंटस', इकॉनामिक एंउ पोलिटिकल वीकली, खंड 16, नं. 27, जुलाई 4, 1981

(2) L.S.S. O' Malley, Bihar and Orissa District Gazetteers'. Patna 1907.

(3) प्रसन्न कुमार चौधरी एवं श्रीकान्त; बिहार में दलित आंदोलन 1912–2000, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

(4) Mukul Sharma; God of muman' Dina Bhadri, Dalit Folk tales and Envirronmental movements, South Asian History and culture, DoI, Research Gate, 2020

(5) डा. राजेन्द्र प्रसाद; आत्मकथाः सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, 2007

(6) फनीश्वर नाथ रेणु 'परती परिकथा' राजकमल प्रकाशन, 2017

(7) सत्यव्रत सिन्हा भोजपुरी लोकगाथा, हिन्दुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, 1957

(8) राम इकबाल सिंह : मैथिली लोक गीत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2012

■

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में समाज के विविध पक्ष

डॉ० ज्योति गौतम

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिला लेखिकाओं में अपनी पहचान बनाने वाली कृष्णा सोबती ने दो प्रमुख उपन्यास पहला 'सूरजमुखी अंधेरे के' दूसरा 'जिन्दगीनामा' लिखकर जो विशेष प्रसिद्धि पायी, जिन्होंने साहित्य पर गहरा प्रभाव ड़ाला। लेखन के प्रारम्भिक काल में छोटी–छोटी कहानियां लिखकर अपना लेखन प्रौढ़ से प्रौढ़तर करती कृष्णा सोबती साहित्य के संसार में अपनी पहचान बनाती चलीं गयीं। डॉ0 देवराज उपाध्याय के शब्दों में– ''यदि किसी को पंजाब प्रदेश की संस्कृति, रहन–सहन, चाल–ढाल, रीतिरिवाज की जानकारी प्राप्त करनी हो, इतिहास की बात जाननी हो, वहां की दन्तकथाओं, प्रचलित लोकोक्तियों तथा 18वीं, 19वीं शताब्दी की प्रवृत्तियों से अवगत होने की इच्छा हो, तो 'जिन्दगीनामा' से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं।''[1]

साहित्य को समाज का दर्पण माना जाता है, जिस साहित्य में समाज की झलक नहीं मिलती है या हम कह सकते हैं कि समाज के सच के स्थान पर कल्पना का आवश्यकता से अधिक समावेश होता है, वहाँ साहित्य उच्चकोटि का स्थान प्राप्त नहीं कर पाता। कृष्णा सोबती ने हमेशा साहित्य और समाज के इस रिश्ते को बनाये रखा। जिस कारण 'जिन्दगीनामा' उपन्यास ने ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त किया। पंजाब की जिन्दादिली को प्रस्तुत करता यह उपन्यास संस्कृति के हर पहलू को छूता हुआ नजर आता है। हर प्रदेश में अपनी एक संस्कृति होती है, उससे जुड़ी कुछ मान्यताएं होती हैं और उन्हें निभाने के कुछ तौर तरीके होते हैं। जिनमें साथ कुछ संघर्ष भी जुड़े होते हैं। इन तमाम बातों का समावेश करते हुए इस उपन्यास को सम्पूर्णता प्रदान की गयी। भाषा की दृष्टि ये देखें तो पता चलता है। कि पंजाबी शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया गया है। जिससे कभी–कभी पाठक को भाषा की समस्या का सामना करना पड़ता है।

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'सूरजमुखी' अंधेरे के' में लेखिका ने एक गम्भीर विषय का चयन किया है। वह बाल यौन शोषण से पीड़ित लड़की जो युवा अवस्था में भी अपने साथ हुए इस अत्याचार को भुला नहीं पाती, उसकी जो

संपर्क – असि0 प्रोफेसर, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ0 शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ0प्र0

मनोवृत्ति होती है इसका वर्णन किया गया है। भारतीय समाज में अक्सर ऐसा होता है कि बाल्यावस्था में उचित सुरक्षा न मिल पाने के कारण या एक कुण्ठित वर्ग द्वारा शोषण का शिकार हो जाने के कारण बहुत सी प्रतिभाशाली लड़कियां जीवन के प्रारम्भ में ही भटकाव की स्थिति तक पहुंच जाती हैं। इस प्रकार की आपराधिक मानसिकता वाले व्यक्ति समाज के हर कोने में मौजूद होते हैं, जिन्हे पहचान पाना कठिन होता है, न उनकी कोई विशेष उम्र होती है न जाति। वह सिर्फ नकाबपोश के रूप में समाज में घूमते हैं, अच्छाई का नकाब। कृष्णा सोबती ने इस उपन्यास को लिखकर निश्चय ही एक घिनौने सच को उजागर किया है। इस तरह के अपराध की रोक–थाम में यह उपन्यास जागरूकता का काम कर रहा है और बड़ी चेतावनी के रूप में सामने आया।

'समय–सरगम' उपन्यास सन 2000 में प्रकाशित अपने समय के विविध सामाजिक पहलुओं पर प्रकाश डालता है और साथ ही भवि य की सम्भावनाओं को उजागर करता है। कोई भी लेखक अपने समय में कई उतार–चढ़ाव को देखता है। फिर कृष्णा जी ने तो स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता पश्चात् दोनों ही प्रकार के भारत को देखा। बदलती जीवन परिस्थितियों एवं मूल्यों को पहचानना। उनका यह अनुभव साहित्य को नई दिशा प्रदान करता है। आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक, मूल्यों को बताता है जो साहित्य के लिए अति महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

'समय सरगम' उपन्यास की मूल जड़ जीवन को पहचानना, उसे जीना, जीवन की हर स्थिति को स्वीकार करने पर आधारित है। कैसे व्यक्ति जीवन के अकेलेपन को बांटने की कोशिश करता है, और सम्बन्ध बनते हैं, फिर बिगड़ते भी रहते हैं। लेखिका के शब्दों को उतार ले तो– 'उदात्त, अनुदत्त, और त्वरित। इस जीवन की अनेकों स्वर संज्ञाएं, स्वरावलियां, और श्रुतियां, और हर एक के आलाप में से बहते भक्ति–भाव, राग–विराग, प्रेम–अनुराग, पीड़ा–दर्द, स्मृति–विस्मृति, तृप्ति–तन्मय, उल्लास, दुख–सुख, शोक–विशाद, आनन्द–अहलाद, संचित जीवन का यही राग।'[2]

इस प्रकार साहित्य को नये–नये विषय प्रदान करने वाली कृष्णा सोबती साहित्य में बहुआयामी प्रतिभा की धनी मानी जाती हैं। अपनी साहित्य यात्रा में हमेशा नया विषय लेकर प्रकट होने वाली कृष्णा सोबती का उपन्यास 'दिलो दानिश' समाज के बाहरी रिश्तों का आन्तरिक होना या आन्तरिक रिश्तों का बाहरी रूप लेना। किस तरह से रिश्तों में परिवर्तन की स्थिति बनती है और उसके मध्य महिलाओं की मानसिक स्थिति किस स्तर तक प्रभावित होती है। इसका बड़ी–बारीकी से वर्णन किया गया है। एक से अधिक विवाह से उत्पन्न नाजुक स्थिति का सामना पहली महिला करे या दूसरी महिला दोनों ही हाल में महिला ही घुटती नजर आती है। त्याग करना हो या स्वीकार करना, समझौता दोनों छोरों पर करना पड़ता है। दिलों–दानिश उपन्यास ने महिलाओं की इस समस्या को बखूबी उजागर किया है। हालांकि इस उपन्यास का मुख्य पात्र कृष्णनारायण अपनी दोनों स्त्रियों के बच्चों की देखभाल पूरी ईमानदारी से करता है।

'डार से बिछुड़ी' उपन्यास सन् 1958 में प्रकाशित एक ऐसा उपन्यास है जिसका कथानक पाशों नामक लड़की के इर्द–गिर्द घूमता नजर आता है, जो बचपन से ही परिस्थितयों के मध्य फंसकर सुरक्षित डोर से टूट जाती है। इस उपन्यास में चिल्लियांवाले मैदान का वह नक्शा जहां खालसा फोंजे थीं और फिरंगियों की सेना थी। ऐसे कई प्रसंग उपन्यास का हिस्सा होते चले जाते हैं। पूरे परिवेश को समेट कर लेखिका मुख्य घटना को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। कृष्णा सोबती कहती हैं।

''एक रात मेज पर बैठी थी कि कोई चुपके से कान में दोहरा गया। जिएं जागे। सब जियें जागें। उलाहने, शिकायत, दुख–दर्द, कडुवाहट–भुलाकर कौन कह रहा था कि सब जिएं–जागें। यह पाशों की आवाज थी। शायद वही लड़की जो उस शाम कर्जन रोड पर चलते चलते मुझे शाहआलमी में दिखी थी।

न शिक्षित थी, न विद्या थी, न पिता की छांह/न विधवा मां की मान–मर्यादा और न परिवार की सुरक्षा। रात के अंधेरों में घर की देहरी से बाहर पांव रखा और हर कदम दूर होती चली गई पाशों अपनों और परायों से आकाश में उड़ते पाखियों की डारों से अलग हुए पंछी की तरह।''[3]

उपन्यास का कथानक पाशों के जीवन को लेकर आगे बढ़ता चला जाता है। जो बिना कसूर के ही जन्म से ही जीवन की तमाम कडुवाहटों का सामना करती रहती है। समाज में ऐसी तमाम पाशों मौजूद हैं जो अपाहिज सामाजिक व्यवस्था के चलते असुरक्षित माहौल में जीवन यापन करती है। हर पल हर घड़ी दूसरों के हाथ बलि चड़ती पाशो को जीवन जीने का या यह कहा जाये कि आत्मनिर्भर होकर आत्मसम्मान से जीने की कला का कभी एहसास ही नहीं हुआ वह जिसके आश्रय में रही उसे ही अपना भाग्य मानती रही लेकिन इस यातनापूर्ण जीवन में इस डार से बिछुड़ी का कोई एक जीवन साथी नहीं बन पाया। हर व्यक्ति ने उसे अपनी शर्त के हिसाब से इस्तेमाल किया।

''मांग भरी, यह घर बाहर संभाल द्रौपदी बनकर सेवा कर, मेरी और मेरे बेटों की।''[4]

स्त्री को बेचना और खरीदना पुरुषों के लिए आम बात है। पाशो तीन भाइयों के बीच अकेले ही रही। माँ की शरण न पा सकी पाशों के लिए ठौर ठिकाना, त्रासद ही बना रहा, पाशो जैसी लड़कियां सौन्दर्य का अंगार तो हो सकती हैं पर एक व्यक्ति की तरह समाज में सम्मान नहीं पा सकती।

'यारों के यार' उपन्यास का प्रथम पुस्तकालय संस्करण 1968 में राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड़ द्वारा प्रकाशित हुआ। सरकारी दफ्तरों की आबोहवा की अपनी पूरी रचनात्मकता प्रस्तुत करता यह उपन्यास वास्तविकता से पूरी तरह ताल्लुख रखता है। अपने इस उपन्यास में दफ्तर के जीवन का हर पहलू दिखाई देता है किस तरह लोग अफसरों को खुश कर अपना सही गलत काम करते हैं। भ्रष्टाचारी की व्यवस्था को बड़ी बारीकी के साथ बेबाकी से कहते हुए भवानी बाबू के माध्यम से पूरी घटना प्रस्तुत करती है। एक वक्त था कि व्यक्ति

की ईमानदारी के लिए उसे पुरस्कार मिलता था लेकिन आजकल लोग ईमानदारी का मजाक उठाते हैं। कृष्णा सोबती अपने उपन्यास में कहती है– ''बड़ा दूध का धुला बनता है, साले जैसे मालूम न हो कि नंगई और धोखाधड़ी इस जमाने में गुनाह नहीं हर आदमी का निर्वाह है।''[5]

अकसर दफ्तर में चापलूस कर्मचारियों का ही बोलवाला होता है। वह एक समूह बनाकर काम करते हैं। न्याय प्रिय और ईमानदार आदर्श व्यक्ति इन सब के बीच पिसता रहता है और दफ्तर में व्याप्त भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाना उसे मुश्किल में डाल देता है। ईमानदारी का ईनाम उसपर तरह–तरह के इल्जाम लगाकर दिया जाता है। जिसके चलते भ्रष्टाचार की जड़ें और भी मजबूत होती चली जा रही हैं। जिसके खिलाफ कृष्णा सोबती ने 'यारों के यार' में भ्रष्टाचार पर सीधा प्रहार किया।

'भ्रष्टाचार' शब्द सुनने में भले ही छोटा हो पर देखा जाये तो यह बड़े व्यापक स्तर पर फैला है। इस का अर्थ बहुत व्यापक है, जिसे रोक पाना बड़ा ही कठिन है। छोटी व्यवस्था से लेकर बड़े–बड़े अधिकारी इसके पोषक बने बैठे हैं। जिसमें पिसते हैं कुछ चन्द वो लोग जो ईमानदारी से काम करते हैं। उपहार, पैसे, सुविधा शुल्क, मेहनताना या उपहार के रूप में भ्रष्टाचार आज समाज में खूब चल रहा है। मध्यवर्ग व्यवस्था में यदि हम देखें तो– ''समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार से मध्य वर्ग सबसे ज्यादा प्रभावित है। मध्यवर्ग एक ओर तो भ्रष्टाचार से बुरी तरह पीड़ित होकर उसका विरोध करता है तो दूसरी ओर भ्रष्ट तंत्र में सहभागी भी बनता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्यवर्ग राजनीतिक भ्रष्टाचार में अपनी हिस्सेदारी को छिपाना चाहता है। मध्यवर्ग के मानस में एक भावना घर करती जा रही है कि देश के ऊपरी तबके में जब इतना भ्रष्टाचार है तो हमारा भ्रष्टाचार समुद्र में बूंद की तरह है। दिल्ली शहर में 50 प्रतिशत बिजली की चोरी मध्यवर्ग ही करता है। इसी तरह मध्यवर्ग की आबादी करीब दस करोड़ है पर इसमें से एक करोड़ से भी कम लोग आयकर देते हैं।''[6]

कृष्णा सोबाती ने 'यारों के यार' उपन्यास में भ्रष्टाचार पर तो उंगली उठायी ही है। साथ ही वैश्यावृत्ति पर भी पैनी नजर डाली है। उन्होंने तमाशा और तमन्ना के माध्यम से बताने के प्रयास किया है कि पुरुष घर के अलावा बाहर भी यदि किसी स्त्री से सम्बन्ध रखता है तो उसे बड़ी शान की बात मानता है। यह शान भी भ्रष्टाचार का ही एक रूप है। कई स्त्रियां पैसे के लिए यह भी भूल जाती हैं कि उनका शरीर कोई वस्तु नहीं या उनकी देह जिन्दा देह है जिसे चलाने के लिए वो उसी को बेचती रहती हैं। ''वैश्यावृत्ति किसी स्त्री द्वारा अपनाये जाने वाले ऐसे व्यवसाय को कहते हैं, जिसमें वह कई पुरुषों के साथ बिना किसी भेदभाव या संवेगात्मक लगाव के केवल रूपये–पैसे या धन के लिए यौन सम्बन्ध स्थापित करती है।''[7]

एक बात पर यदि हम और गौर करे तो उपन्यास में जो गालियां महिलाओं के विभिन्न अंगों को ध्यान में रख कर दी जाती है, उन पर भी बड़ी दिलेरी के साथ व्यंग किया गया है।

तीन पहाड़ (1968)– तीन पहाड़ शब्दों का अर्थ इस उपन्यास में तीन बाधाओं के लिए किया जाता है। यह एक लघु पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास है। जिसमें जया नाम की महिला पात्र के माध्यम से कथानक को आगे बढ़ाया जाता है। जिसके जीवन में तीन ऐसी बाधायें आती हैं जो पहाड़ की तरह होती हैं। यह तीन पहाड़, तीन सदमा के प्रतीक हैं। प्रथम पहाड़ का प्रतीक हैं एडना से विवाह कर श्री द्वारा मंगेतर जया को ठुकरा दिया जाना अर्थात भावनात्मक आघात, दूसरा है पहले पुत्री तथा बाद में पुत्र वधू के रूप में जया जिस मां और घर पर अपना अधिकार समझते आई है, अब वहीं श्री के. विवाहोपरान्त अपनी उपस्थित औचित्य के प्रति शंकित होना, अर्थात निराश्रित हो जाने की कचोट। तीसरा है तपन से जुड़ने की चाह और तपन से पुतुल का सम्बन्ध जानकर उनके बीच दरार बनने की भिज्ञता अर्थात निरर्थक बदरंग भविष्य जीने का कटु बोध।[8]

पूरा उपन्यास इस व्यथा को बताता है कि बिना पुरुष के सहारे स्त्री अपना जीवन यापन नहीं कर सकती है। स्त्री को जीवन जीने के लिये पुरुष का सहारा जरूरी है, फिर चाहे वह भाई हो, पिता हो, पति हो कोई भी हो। जया पूरे उपन्यास में भटकाव भरे जीवन में घूमती रहती है। जया ने जिसे बचपन से अपना साथी माना वही श्री उसे धोखा देता है और विदेश से एक लड़की एडना से विवाह कर जब लौटता है तो जया यह दुख सहन नहीं कर पाती, जिसे वह बचपन से चाहती है और श्री भी उसे चाहता है फिर ऐसे में श्री का अन्य लड़की से विवाह कर लेना जया के लिये किसी पहाड़ से कम नहीं था। वह दुखी होकर दार्जिलिंग चली जाती है। वह तपन के रूप में उसे एक सहारा मिलता है लेकिन वह श्री को पूरी तरह से भुला नहीं पाती जीवन में इस दुख को सहन न कर पाने की वजह से अंत में वह हार कर आत्महत्या कर लेती है और उपन्यास का दुखान्त हो जाता है। कृष्णा सोबती ने इस उपन्यास के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जया जैसी स्त्रियाँ कई बार किसी पुरुष को जब अपना सब कुछ मान लेती हैं तो उनकी सोच उन से उन तक ही रहती है। ऐसी स्थिति में धोखा सहन कर पाना उनके लिये कठिन होता है। क्योंकि उन्होंने जिन्दगी में धोखे की कोई कल्पना नहीं की होती। जैसा जया के साथ होता है।

'ऐ लड़की' उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुआ है परन्तु कई लोग इसे लम्बी कहानी भी मानते हैं। यह उपन्यास कथा निर्मम जिजीविषा का महाकाव्य भी कहा जाता है। इस उपन्यास में एक बूढ़ी स्त्री पूरे जीवन का, पूरे अनुभवों का, पूरा वर्णन स्वातंत्र्य रूप से किया गया है। माँ अपनी बेटी को वो सारे अनुभव बता देना चाहती है जो चाहे अच्छे हों या बुरे पर जीवन की एक समझ बताते हैं। इस उपन्यास में वृद्धावस्था और मरणावस्था के बीच का धीमा आगमन बड़ी सूझबूझ और विस्तार से बताया गया है किस तरह बूढा आदमी असहाय होकर सम्पूर्ण शोभा को खो देता है। सम्पूर्ण उपन्यास में एक ऐसी बेटी को गृहस्थी का मार्ग माँ के द्वारा समझाया जा रहा है। जो वर्तमान में गृहस्थ नहीं है। यह वृद्धा बीमार होकर भी ऊर्जावान दिखाई देती है। किसी बात की हताशा व निराशा नहीं दिखाई

जाती है। जीवन से जूझती एक स्त्री जो कभी हार नहीं मानती हैं। वह हमेशा अपनी बेटी को सम्मानित और मयोदित जीवन की शिक्षा देती है। पूरे उदाहरण के साथ अपने जीवन के तमाम पहलुओं को प्रस्तुत करती रहती है। जीवन के अन्तिम क्षणों को वृद्धा द्वारा पूरी सच्चाई से स्वीकार किया गया है। वह जानती है जैसे जीवन है वैसे मृत्यु भी एक सत्य है।

'ऐ लड़की' दो पीढ़ के बीच का संवाद है। एक पीढ़ी जो अपने जीवन की पारी खेल चुकी है। जिसके पास अनुभावों का भण्डार है, जिसे वह अपनी बेटी जिसका विवाह तक नहीं हुआ, उसे दे देना चाहती है। एक ऐसी पीढ़ी जिसके जीवन का ठीक से प्रारम्भ भी नहीं हुआ, जिसने जिन्दगी के किसी पहलु को भोगा नहीं है, सिर्फ सुना है अपनी मां के मुंह से। हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास में दो जीवन मूल्यों या दृष्टियों का संवाद है कि एक समान घटनायें सभी के जीवन में नही घटती हैं। रूप, स्थान, समस्या हर चीज बदल जाती है, नहीं बदलता तो स्त्री के प्रति समाज का नजरिया जो आज भी दोयम् दर्जे का ही है। जिस कारण वृद्धा को बेटी के अकेलेपन की चिंता होती रहती है, फिर यह उसकी सबसे बड़ी चिन्ता होती है, क्योंकि वह भी इस चक्र से निकली होती है।

'जिन्दगीनामा' उपन्यास पारम्परिक ढ़ांचे को चुनौती देता यह उपन्यास एक कामकाजी रचना के दायरे में आता है। इस उपन्यास ने इस विधा को एक नई चुनौती दी है। ''जिन्दगीनामा' की एक अपनी विशिष्ट पहचान है, जो उसे उपन्यास वर्ग में आने वाली तमाम दूसरी रचनाओं से अलग महत्व प्रदान करती है। सांझी संस्कृति का एक व्यापक परिदृश्य एक लम्बी परम्परा पंजाब की धरती की माटी की महक, उसमें रची–बसी लोक–कथाएं जिनके छोर एक ओर पुराणों को छूते हैं और दूसरी और विभाजन पूर्व में लोक जीवन को। लेखिका को यह सब कहीं गहरे उद्वेलित करता है। इस सांझी संस्कृति का सम्मोहित आज भी स्मृति में तमाम सूक्ष्म संवेदनाओं के साथ जीवित है। अपनी सर्वागता में इसी अर्थ में वह है ''इतिहास जो नहीं है और इतिहास जो है''[9]

इस उपन्यास का जो मुख्य चरित्र है, उसके साथ लेखक का गहरा रिश्ता है क्योंकि वह पंजाब शहर, वह उसी में रही है और उस पंजाबी माहौल की गहरी स्मृतियां जो पूरे स्थानीय फलक पर एक गहरा रंग छोड़ती हैं। मुख्य चरित्र या पात्र के रूप में इस उपन्यास का केन्द्र जिन्दगी को रखा गया है। जिसके चलते इसे आंचलिक उपन्यास भी कहा जाता है। इसमें आंचलिकता का समावेश किस्से, लोक–गीत, कथा, इतिहास और किवदंतियों के कारण प्रभावित होता है।

'जिन्दगीनामा' से पहले बहुत से आंचलिक उपन्यास लिखे जा चुके हैं पर इस उपन्यास में उन्होंने पारम्पिरिक आंचलिक तत्वों को भी अपने विस्तृत रचना फलक के कारण नकार दिया है। पूरे देश को आंचलिकता के घेरे में लेता यह उपन्यास जान पड़ता है। घटनाओं के आगे–पीछे घटने के कारण कई बार पाठक को इन्हें जोड़ने में समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है लेकिन यह भी कृष्णा जी के लेखन के नयेपन को स्पष्ट करता है। 'जिन्दगीनामा' का पहला खण्ड 1979

में जिन्दा–रूख नाम से छपा था, जो साहित्य अकादमी से पुरस्कार पाने के साथ काफी विवाद में रहा था। कृष्णा जी की यह खासियत रही कि वह जब भी किसी रचना के साथ प्रकट हुई, उसकी पृष्ठभूमि इतनी भिन्न रही की हमेशा वह विवाद के घेरे में रही।

यह विवाद उन्हें लेखन के उच्च शिखर तक पहुंचाता रहा और उन्होंने अपनी इस कला को कभी पीछे नहीं हटने दिया। फिर चाहे वह 'ऐ लड़की हो', 'यारों के यार हो, या 'मित्रो मरजानी'। सभी को उनके अपने अलग रंग में दिखने की पूरी आजादी के साथ प्रस्तुत करती नजर आतीं है 'जिन्दगीनामा' भी एक इसी तरह की अलग पहचान बनाता है। कह सकते हैं कि 'जिन्दगी नामा' उपन्यास कृष्णा सोबती के सम्पूर्ण जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति है। वे कहतीं हैं– ''शारीरिक गठन और सेक्स के नाम पर नारी लेखन और पुरुष लेखन को अलग–अलग खांचों में बिठाने से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है, व्यक्तित्व की कुल जमा पूंजी की पड़ताल जो लेखक अपनी खोज और अनुभव के बल पर अर्जित करता है। इसी की धार पर चढ़कर उसकी प्रतिभा साहित्य की बड़ी और साझी दुनिया का सामना करती है।''[10]

'मित्रो मरजानी' मित्रो यह उपन्यास एक ऐसी महिला के जीवन पर आधारित है। जो अपने खुले विचारों के चलते विवाद में रहती है। जिसे लोग बोल्डनस का नाम देते हैं। यह बोल्डनेस सेक्स को लेकर रहती है। आमतौर पर महिलायें इस तरह के प्रश्नों पर खामोश रहती हैं। अपनी इच्छाओं को दबाये रहती हैं किन्तु मित्रो इन सबसे अलग पात्र हैं। कृष्णा सोबती ने यह एक ऐसा पात्र निर्माण किया जो लाखों स्त्रियों की जुबान बना। यह मर्म हर स्त्री का है। स्त्रियों के अन्दर दम तोड़ती सेक्स की इच्छा का खुलासा उन्होंने मित्रो के माध्यम से किया है। इस उपन्यास में सेक्स की आकांक्षा को बताते हुए मित्रो अपनी जेठानी से कहती है– ''अब तुम ही बताओ जेठानी, तुम जैसा सतबल कहाँ से पाऊँ–लाऊँ। देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता। बहुत हुआ हफ्ते–पखवारे और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास कि मछली–सी तड़पती हूँ।''[11]

मित्रों के माध्यम से मन की इस गाठों को खोलती कृष्णा सोबती अपनी बेबाकी का परिचय देती नजर आती है।

सदियों से चली आ रही मानसिक यातना की परम्परा का विरोध करती यह रचना एक बड़े परिवर्तन का इशारा है। पारिवारिक अत्याचारों को सहती स्त्री, सती प्रथा, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा आदि से मुक्ति का रास्ता देख रही है। जहां स्त्री को एक वस्तु की तरह न देखा जाये, जिसका परिवार में माता–पिता, भाइयों, पति, सास, ससुर द्वारा किसी भी तरह उपयोग न किया जा सके। मित्रों ने मैं कि आवाज उठाई है। मैं भी हूँ मेरा भी अस्तित्व है। मैं जीवित प्राणी हूँ। मेरे अन्दर भी भावनाएं हैं। अपने वजूद की आवाज के उठाती मित्रों आज समाज में कम नहीं है।

'मित्रों' यथार्थ को बदलने से साथ ही साथ एक नया यथार्थ भी निर्मित करती है। एक दवा हुआ यथार्थ जो सिर उठाने के मजबूर हो उठा है।

'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'– उपन्यास सन 2017 में प्रथम संस्करण राजकमल प्रकाशन के यहां से छपा। भारत की तस्वीर जो विभाजन से पहले थी और जो विभाजन के बाद हुई दोनों बातों को यह उपन्यास सजीवता के साथ बयां करता है। बंटवारे की त्रासदी को जिन लोगों ने सहा। अपने ही मुल्क में जो बैगाने हो गये शरणार्थी बन कर उखड़े कदमों को लिए दर–व–दर भटकते लोगों की कहानी बयां करती है। यह उपन्यास लेखक के दर्द को बताता है। कहीं न कहीं कृष्णा सोबती का वह दर्द, जिसे उन्होंने अपनी खुली आंखों से देखा।

उपन्यास का रूख रियासतों के विलय से लेकर व्यक्ति की पहचान बदलने तक की तमाम स्मृतियों और अपनी नागरिकता को प्राप्त कर पाने का अहसास की हर एक हद से छू जाता है। उपन्यास में लगभग सभी स्थानों पर वास्तविकता फैली हुई है फिर चाहे वह स्थान हो घटनाएं हों या पात्र। कृष्णा सोबती अपने दर्द को बताते हुए कहती है ''दिल्ली–भारत की राजधानी दिल्ली, नई दिल्ली, शाहजहांबाद, पुरानी दिल्ली, चिराग दिल्ली–एक नहीं अनेक दिल्लियां। आजाद पाकिस्तान की पहली दिवाली होगी। झंडा फहराया जाएगा। अल्लाह–ओ–अकबर की ऊँची तरंगे उठेंगी। आवाजें–पाकिस्तान जिन्दाबाद, मुहम्मद अली जिन्ना जिन्दाबाद! वे लड़े उन्होंने पाया, हम डरे, हमने गंवाया। बापू गांधी तुमने हमारे घर–बाहर, धरती–पानी सब परायें कर दिये यह कैसी सियासत।''[12]

विभाजन से पहले कृष्णा सोबती पाकिस्तान में, मृत्यु को प्राप्त हुईं हिन्दुस्तान में। अपने भीतर के गहरे दर्द को इस उपन्यास में व्यक्त करतीं गयीं।

'चन्ना' उपन्यास एक व्यापक फलक पर लिखा गया जो कृष्णा सोबती का पहला उपन्यास है। जिसका छपना इस कारण सम्भव न हो सका क्योंकि इसमें नागरी प्रचारिणी सभी के श्री लल्लू लाल जी ने प्रूफ के दौरान कई शब्दों को यह कह कर बदल दिया की यदि इसके देशज शब्द ज्यादा रहे तो पाठक को समझने में दिक्कत होगी लेकिन यह बात कृष्ण सोबती को गंवारा नहीं थी और उन्होंने आधे छपे उपन्यास की कीमत चुका कर इसे वापस ले लिया, जिसके बाद यह बन्द बक्से के हवाले हो गया। लल्लू लाल जी का कहना था कि लेखक की अहिन्दी भाषी भाषा को सुधारना जरूरी था। खैर आजादी के पहले भारत की ग्रामीण धरती को स्पष्ट करता यह उपन्यास चन्ना के रूप में एक आधुनिक स्त्री की भूमिका को लिए सन 2019 में 'राजकमल' से प्रकाशित हुआ जो इसका पहला संस्करण था।

उपन्यास लेखन में कृष्णा सोबती के पास इतने विषय रहे कि उनके लेखन में कभी दोहराव नहीं हुआ। हर विषय के साथ पूरी सजीवता प्रकट हुई क भणा जी साहित्य जगत में एक अनूठी पहचान बनातीं हैं। गम्भीर चिन्तन को व्यक्त करतीं हैं। कृष्णा सोबती ने कभी महिला लेखन या पुरुष लेखन का दामन नहीं थामा। वे सिर्फ एक लेखक के रूप में या कहें कि एक अदभुत लेखक के रूप में अपनी पहचान बनाये रही। जिस तरह उपन्यास लेखन में कृष्णा सोबती को

सफलता मिली उसी तरह कहानी लेखन में भी उन्होने हिन्दी जगत में अलग पहचान बनायी।

सन्दर्भ सूची

1. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ– 261
2. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ– 262
3. कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी (उपन्यास), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–13
4. कृष्णा सोबती, डार से बिछुडी (उपन्यास), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–31
5. कृष्णा सोबती, यारों के यार (उपन्यास), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–69
6. एन0 एन0 ओझा, भारत की सामाजिक समस्यायें, क्रनिकल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–3
7. एन0 एन0 ओझा, भारत की सामाजिक समस्यायें, क्रनिकल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–157
8. प्रो0 व्ही0 एच0 वाघमारे, कृष्णा सोबती की कहानियों में मध्यवर्गीय नारी जीवन, क्रनिकल, पब्लिकेशन, दिल्ली, पृष्ठ– 19
9. छबिल कुमार मेहेर, कृष्णा सोबती एक मूल्यांकन, सामाजिक बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ– 158–159
10. छबिल कुमार मेहेर, कृष्णा सोबती एक मूल्यांकन, सामाजिक बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ– 170
11. प्रो0 व्ही0 एच0 वाघमारे, कृष्णा सोबती की कहानियों में मध्यवर्गीय नारी जीवन, पूजा पब्लिकेशन, कानपुर, पृष्ठ– 18
12. कृष्णा सोबती, गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान (उपन्यास) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–13

■

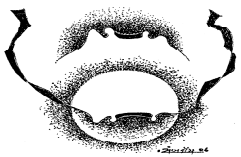

समालोचना

'शब्द ढले अंगारों में'

व्यथा को वाणी प्रदान करती गजलें

अनिरुद्ध सिन्हा

हिन्दी गजल के विकास की सीमा–रेखाएँ इसके भीतर ही मिलती हैं। गजलकार ही इसके विकास की सीमा–रेखा तय कर रहे हैं। कारण है आलोचकीय शून्यता। सावधानी के साथ आज तक कम ही इसे पहचानने और समझने की चेष्टा हुई है। सिर्फ शेरों की व्याख्या कर देने से ही इसके विकास की नींव नहीं रखी जा सकती।हिन्दी गजल की समृद्ध परंपरा का मूल्यांकन करने में आलोचना असफल रही है।आलोचकों के उदासीन रवैये से दुखी होकर कुछ गजलकारों ने ही आलोचना का मोर्चा संभाला। हम यह मानते हैं, सच भी है, अपने आरंभिक दिनों में यह मनोरंजन का साधन बनकर लोकप्रिय तो हो रही थी साथ ही सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रही थी। ये दोनों धाराएँ काफी दिनों तक चलीं। जैसे–जैसे जीवन की व्याख्या के नए मूल्यों के प्रति विश्वास की भावना दृढ़ होती गई प्रगतिशीलता की पहचान और परख करने लगी। कुछ ऐसी आत्मीयता और बेतकल्लुफी आई कि पाठक भी इससे घुल–मिल गए। पाठकों ने समुचित स्वागत भी किया। आज भी यह सिलसिला जारी है। अगर दुष्यंत काल की बात की जाए तो उस समय तो यह नए नारों के रूप में ही प्रवर्तित हुई, लेकिन धीरे–धीरे इसने नए काव्य आदर्श का व्यवस्थित और सृजनात्मक संवाद का रूप भी ग्रहण किया।आधुनिक हिन्दी गजल–लेखन का विषय गजलकार की चेतना के सामने आज फैला हुआ है। जीवन के मूल्यांकन की क्षमता कैसे उत्पन्न की जाए,यह उसके विवेक और क्षमता पर है। हमारे अन्तःकरण का स्वरूप जैसा होगा,भावनाएँ भी उसके अनुरूप होगीं।इसे मान लेने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए।

यथार्थ का जो नया से नया उद्घाटन हो सकता है और उसका दृष्टि विस्तार माधव कौशिक की गजलों में देखने को मिलता है। समकालीन यथार्थ को देखने और परखने के लिए नई आँख देती हैं।माधव कौशिक समकालीन हिन्दी गजल में अपनी अलग पहचान बनाए हुए हैं। व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों दृष्टि से इनके सृजनात्मक कार्यों की सूची काफी लंबी है। इन्होंने बड़े लय और प्रतिबद्ध होकर गजल–लेखन का कार्य किया है। हाल ही में इनका नया गजल–संग्रह

संपर्क – गुलजार पोखर, मुंगेर–811201 (बिहार), चलभाष–7488542351

'शब्द ढले अंगारों में' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष आया है जिसे गजल की अच्छी कृतियों के रूप में देखा जा सकता है। विषयों का चुनाव और ट्रीटमेंट माहौल के अनुरूप है। संग्रह में कुछ ऐसे भी शेर हैं जिनके छिपे भाव को समझ पाना इस बात पर निर्भर करता है कि पाठक को शेरों के भीतर उतरने की क्षमता है या नहीं। जिंदगी के चिंतन और झेले जा रहे तनाव को वे किस तरह समझने की छटपटाहट रखते हैं। यह उन पर है। माधव कौशिक भारतीय समाज में जारी हलचलों से सीधा वाबस्ता होने की जिद तो पालते हैं लेकिन वे सीधे–सीधे अभिव्यक्त नहीं करते बल्कि दूसरी तरह से करते हैं जिसमें एक संकेत का भाव छुपा रहता है। दरअसल गजल की यही विशेषता भी है। यह अपनी बात को सपाटबयानी का रूप नहीं देती। किसी भी उत्कृष्ट गजल को ईमानदारी से पढ़ने और समझने की जरूरत होती है। गजल की यह पहली शर्त माधव कौशिक बखूबी निभाने में सफल रहे हैं। इनकी कलात्मक और रचनात्मक बेचौनी को इस शेर में देखा जा सकता है... 'क्या जाने किस अनहोनी से आतंकित हैं सन्नाटे/आँखों में आने से पहले हर सपना मर जाता है।'

आतंकित सन्नाटा और सपने को आँखों में आने से पहले मर जाना को यथार्थ में कल्पनात्मक और क्रियात्मक भावों की विवेचनात्मक समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि गजलकार का भाव मात्र आशंकामात्र नहीं है बल्कि आज के वर्तमान का सच है। दोनों स्थितियाँ क्रियात्मक जीवन में सक्रिय और संभावित हैं। यहाँ सन्नाटे का अर्थ शांत वातावरण से है। किसी अनहोनी की आशंका से सन्नाटे भी आतंकित हैं। स्वप्न के उदय के होने में वेद्यान्तर संपर्क–शून्यता अर्थात अपने विषय के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का भान न होना की अनिवार्यता है। सन्नाटा आतंकित है तो जरूर कोई अप्रिय घटना की संभावना है। यही अप्रिय घटना की संभावना आँखों में अवसाद भर देती है। यही अवसाद स्वप्न की मृत्यु का प्रतिपक्ष बनता है। ऐसे सन्नाटा स्वयं अपने आप में आतंक है और अगर आतंक ही आतंकित है तो इसका अर्थ है प्रकाश पक्ष सबल है। इस शेर में दो अर्थ ध्वनित होते हैं।इस शेर में समिष्टगत वेदना की अभिव्यक्ति अपनी आंतरिक लय के साथ देखने को मिलती है। समष्टि चित्र से बिम्ब में सजीवता आ गई है–आतंकित सन्नाटा और सपनों का मर जाना। सन्नाटा का सपनों में परिवर्तित हो जाना या सपनों का प्रतिरूप देखना।

संग्रह की अधिकांश गजलों में मानवीय संवेदनशीलता को बचाए रखने की चिंता है जो नैतिकता मनुष्यता के धरातल पर होती है। यह चिंता पक्ष और विपक्ष अवसरानुकूल बदलते रहते हैं। एक गजलकार के हृदय में जितनी भावनाएँ उठती हैं, उसकी परिणति प्रत्यक्ष लेखन में एक दूसरे ही ढंग से हुआ करती है जो व्यंजनात्मक शक्ति में निहित होती है। जिस गजल की भाषा में जितनी अधिक व्यंजनात्मक शक्ति होगी उसमें अर्थ–गौरव उतनी ही अधिक होगी। माधव कौशिक ने भी अपनी गजलों में जहाँ इसकी जरूरत पड़ी है बखूबी निर्वाह किया है... 'नदी थी, झूमकर आई थी मिलने/समुंदर छूने से भी डर रहा था।'

यहाँ नदी के लिए समुंदर को उपमेय बनाने में एक आधार वर्ण–साम्य तो है ही पर दूसरा उपमान और भी अर्थ व्यंजक है।इससे बिम्ब–ग्रहण में सहायता मिलती है। समुंदर को नदी का डर नहीं रहता है। वह हमेशा नदियों के लिए बाँहें फैलाये शोर मचाता रहता है। यहाँ गजलकार व्यंजनात्मक अर्थों में यह दिखलाना चाहते हैं,नदी तो प्रायः समुंदर से ही जाकर मिलती है तो फिर समुंदर के भीतर यह डर कैसा।इसमें वक्तृत्व–शैली का सुंदर निदर्शन हुआ है। समग्रता के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करने पर एक अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि गजलकार के सामने बरसात की वह नदी है जो मर्यादा को तोड़ती हुई रजस्स्वला होकर समुंदर से मिलने जा रही है। लेकिन नायक समुंदर को अपनी सीमा का बोध है। देश काल और पात्र के हिसाब से आचरण करता है इसलिए वह मिलने से संकोच कर रहा है।ऐसे कई और भी अर्थ व्यंजित हो रहे हैं जो हमें मिथक की ओर ले जाते हैं।इस शेर की विशेषता भाषा की व्यंजनात्मकता के साथ –साथ इसकी आंतरिक प्रतीकात्मकता में भी है। संग्रह की गजलों में व्यक्त समाजिकता न तो राजनीति की नारेबाजी है न आदर्श का खोखलापन और न ही असंतुलन। क्षोभ है। जीवन के जर्जरित रूप का चित्रण है। आज की परंपरा और विसंगतियों के विरुद्ध प्रबल विरोध के अंदर आशावाद का सूक्ष्म संकेत है जिसका छोटा–सा उदाहरण इन शेरों में द्रष्टव्य है–'मैं किस मुरदा शहर में आ गया हूँ/कोई आवाज दे घर से निकल कर।'

ऐसी बात नहीं है कि माधव कौशिक की गजलें अपने परिवेश के बारे में कुछ कहती हैं और दुनिया के बारे में कुछ। परिवेश की बनती बिगड़ती शक्लों को देख कर समवेत रूप से अपने विचारों को प्रतिष्ठित करती हैं। अगर परिवेश विकृत है तो,दुनिया भी सुंदर नहीं होगी। इन विचारों में अपने समकालीन समाज,समय और संस्कृति वर्णन और आलोचना होती है। 'मैं किस मुरदा शहर में आ गया हूँ।' सीधे स्वर में जो वेदना और उलाहना है वह चेतना के विस्तार को खोलने की प्रस्तावना भी है। लोगों को उनकी क्षमता और समय को अपनी आँखों से देखने की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं,जिसमें शहर का सत्य उत्पन्न करने वाली भावनिक निर्दयता का रक्तरंजित स्वरूप है। वहीं दूसरी पंक्ति हृदय की गहराई को छू लेती है – जब वे कहते हैं 'कोई आवाज दे घर से निकल कर' प्रगतिशील धारा में यह शेर अलग भावदशाएँ व्यंजित करने अपनी ताजगी के कारण लक्षणीय है। आधुनिक शहर की भावभंगिमाओं को अभिव्यक्त करने वाला यह शेर आज के समय के एक पक्ष को अभिव्यक्त करने में सफल है। शहर की परिस्थितियों का आकलन इससे बेहतर क्या हो सकता है। हम अपनी (शहर के प्रति) सभी पूर्व मान्यताओं पर पुनर्विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं। शहर को देखने और परखने का नजरिया आंतरिक भावों से बाहरी आकृति में बदल जाता है।यही इस शेर की विशेषता है।

माधव कौशिक की चिंता का एक पक्ष यह भी है आज जीवन से प्रेम, करुणा, दया, त्याग, सादगी आदि जो श्रेष्ठतम मूल्य हैं,तिरोहित हो गए हैं,उनकी पुनर्स्थापना। प्रकृति के साथ जीने का प्रचलन भी हमने छोड़ दिया है।इनका

मानना है प्रकृति प्रेम केवल मनोरंजन, सैर–सपाटे का साधन मात्र नहीं है,बल्कि इसमें जन–जन का उद्धार निहित है। भौगोलिक स्थिति, पारंपरिक मूल्य, धार्मिक विश्वास और उपलब्ध संसाधनों में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।किसी समाज की परंपरा और सांस्कृतिक पहचान की जीवन–वायु भी है। कुछ ऐसे ही संग्रह की कुछ गजलों में मिलते हैं। मिसाल के तौर पर– 'कितनी मटमैली लगती है चूनर धानी बस्ती में/जाने कब किस दिन आएगी शाम सुहानी बस्ती में।'

प्रकृति का संबंध चेतना से है। खेद का विषय है कि आधुनिक काव्य में भाषा,कल्पना,छंद या गजल आदि में प्रकृति की संगति,सुसम्बद्धता की ओर कम ध्यान दिया जा रहा है। वर्णित शेरों में प्रकृति और सौंदर्य के नाम पर व्यर्थ की भावुकता,रोमानीपन,काल्पनिकता तथा शब्द–क्रीडा के लिए स्थान नहीं है और न व्यर्थ का गर्जन–तर्जन एवं जोश–उत्साह है अपितु प्रकृति–जगत की खुरदुरी और विषम वास्तविकता का स्पष्ट और सरल चिंतन और चिंता है। इन शेरों के बरक्स चिंता को देखा जाए तो प्रकृति दोहन की प्रवृति के विरुद्ध आवाज दिखाई पड़ती है। आज हिन्दी गजलकारों के समक्ष अन्य बड़ी चुनौतियों से बड़ी चुनौती जंगल, पेड़, पहाड़ बचाने की चुनौती है। समय की मर्यादा और मांग निर्धारित करने के लिए हमारे लेखन की आधारशिला अत्यंत ही व्यापक एवं विशाल होनी चाहिए।आज ऐसी गजलों की जरूरत बढ़ गई है जो इन जटिल स्थिति से मुठभेड़ की क्षमता रखती हो। प्रकृति के सच को जानने की तत्परता हो और विकास के नाम पर प्रकृति को नष्ट करने के विरुद्ध खड़ा होने का साहस हो।"पत्ते हरे दरख्त के झरते रहेंगे क्या"।

"शब्द ढले अंगारों में" की कई गजलों में प्रेम के भी स्वर हैं जो पाठकों के रुचि–विस्तार के रूप में देखा जा सकता है। प्रेम रमणीयता का एक लक्षण है जो काव्य–जगत में आकर हमारे भावों को जागृत करता है।एक असाधारण अर्थ में एक संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करता है जिससे हमारी संवेदना का पाट चौड़ा होता है। माधव कौशिक का प्रेम मांसल न होकर जीवन–जगत और संवेदना के पक्ष में खड़ा दिखाई देता है– 'तुम्हें मालूम क्या है उम्र की दीवानगी का दम/मुहब्बत में हजारों बार जीते और हारे हैं/बहुत दिन हो गए पानी में उतरे/दिलों की झील है झिलमिल अभी तक।' उदासीनता और उपेक्षा का एक विराट सन्नाटा जो हमारे समक्ष पसरा हुआ है उसे तोड़ने में संग्रह की गजलें सक्षम हैं। यथार्थ का नया से नया उद्घाटन इस संग्रह में मिलता है। आधुनिकता के सारे प्रचलित बिम्ब इस संग्रह में देखने को मिलते हैं जिससे संग्रह की श्रेष्ठता बढ़ जाती है।

'कोई गलती नहीं कर पाये 'माधव'/हुई गलती यही हर बार हर दिन।'

■

● **'शब्द ढले अंगारों में'** (गजल–संग्रह); **गजलकार** – माधव कौशिक **प्रकाशक** – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; **संस्करण** – 2022; **मूल्य** – 240/–

चिन्तन–सृजन का स्वामित्व संबंधी विवरण

(फार्म–4, नियम–8)

1. प्रकाशन स्थान	:	दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
3. स्वामी	:	आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक	:	डॉ. लता सिंह सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	222, सेक्टर – 15–ए नोएडा – 201301
5. प्रकाशक	:	डॉ. लता सिंह सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	222, सेक्टर – 15–ए नोएडा – 201301
6. सम्पादक	:	डॉ. शिवनारायण
(क्या भारत के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	305, अमन अपार्टमेन्ट, शांति निकेतन कॉलोनी, भूतनाथ रोड, पटना–800026

मैं डॉ. लता सिंह घोषित करती हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. लता सिंह

प्रकाशक

R.N.I. Reg. No. DELHIN/2003/13814 UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

मुद्रक एवं प्रकाशक आस्था भारती, (मालिक) की ओर से डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवानिवृत्त), सचिव द्वारा 27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट, मयूर विहार फेस-1 विस्तार, दिल्ली-110 096 से प्रकाशित तथा ए.के.इन्टरप्राईजेज, कंकड़बाग, पटना-20 से मुद्रित।

सम्पादक : डॉ. शिवनारायण
e-mail : shivnarayan22@yahoo.com